मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 106 ● वर्ष 12, अंक 1 ● मार्च 2022 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पितृसत्ता के विरुद्ध लड़ाई पूँजीवाद विरोधी संघर्ष से अलग रहकर सफल नहीं हो सकती! 14

आँगनवाड़ी और अन्य स्कीम वर्कर्स के शोषण से पूँजीवादी व्यवस्था को कैसे फ़ायदा होता है? 9

यूक्रेन में जारी साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करो 11

विधानसभा चुनावों में भाजपा फिर क्यों जीती?

मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के लिए इसका क्या मतलब है?

हमारे भावी प्रतिरोध की रणनीति क्या हो?

सम्पादक मण्डल

भाजपा को चार राज्यों में हालिया विधानसभा चुनावों में भारी जीत मिली है। यहाँ तक कि जिन राज्यों में भाजपा और कांग्रेस के बीच काँटे के मुक़ाबले की बात की जा रही थी, उन राज्यों में भी भाजपा ने आराम से कांग्रेस को पीछे छोड़कर बहुमत हासिल किया। देशव्यापी पैमाने पर जिस राज्य के चुनावों का प्रभाव सबसे ज़्यादा पड़ना था वह था उत्तर प्रदेश। वहाँ भाजपा की सीटों में कमी आयी और प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी पार्टी समाजवादी पार्टी की सीटों में अच्छी-ख़ासी बढ़ोत्तरी के बावजूद भाजपा ने आराम से बहुमत हासिल किया। इसके साथ ही उत्तर प्रदेश को फ़ासीवाद की प्रयोगशाला बनाने का सबसे बर्बर क़िस्म का प्रयोग भी अब आगे बढ़ेगा, जिसका सिरमौर योगी आदित्यनाथ है।

मध्यवर्गीय प्रगतिशील दायरों में बहुत-से लोग जो यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि इस बार बेरोज़गारी, महँगाई और ग़रीबी और साथ ही कोरोना में हुई लाखों मौतों और साथ ही पश्चिमी उत्तर प्रदेश में धनी किसान-कुलक आन्दोलन के कारण भाजपा को उत्तर प्रदेश में बहुमत प्राप्त नहीं होगा और समाजवादी पार्टी-नीत गठबन्धन को जीत मिलेगी, उनकी आशाओं पर पानी फिर गया है। ज़ाहिर है, ऐसे लोग अब अवसाद में चले गये हैं और कई तो उत्तर प्रदेश की जनता को ही कोस रहे हैं! ऐसे लोगों से यही कहा जा सकता है, फिर अपने लिए वे नयी जनता चुन लें!

चुनावों में नतीजों का विश्लेषण महज़ ईवीएम की चोरी और उसके साथ होने वाली छेड़छाड़ के आधार पर भी नहीं किया जा सकता, हालाँकि निश्चित तौर पर ये धाँधली हुई है। लेकिन भाजपा जितने बड़े अन्तर से जीती है उसके आधार पर साफ़ कहा जा सकता है कि यदि ये धाँधली न होती तो भाजपा की जीत का अन्तर भले ही कम होता, लेकिन जीतती भाजपा ही।

ऐसे में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के अगुवा तत्वों को यह समझने की आवश्यकता है कि भाजपा की हालिया ज़बर्दस्त जीत के पीछे वास्तविक कारण क्या हैं। केवल इस समझ के आधार पर ही भविष्य में क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग अपने जनान्दोलन के ज़रिए संघ परिवार और भाजपा के प्रतिक्रियावादी फ़ासीवादी सामाजिक आन्दोलन को चुनौती और शिकस्त दे सकता है। इसके लिए बहुत सघन और व्यापक कार्य और मेहनत की ज़रूरत है। उसके बिना क्रान्तिकारी शक्तियों को भाजपा को हराने का सपना देखने का कोई हक़ नहीं होगा।

पहले भाजपा की विजय के प्रमुख सामान्य कारणों की चर्चा करनी आवश्यक है और उसके बाद हम मौजूदा चुनावों में उसकी जीत के विशिष्ट कारणों पर बात करेंगे।

भाजपा की विजय के पीछे सक्रिय सामान्य कारक

1. संघ परिवार का फ़ासीवादी संगठन

यह पहला महत्वपूर्ण कारक है जो भाजपा को अन्य सभी पूँजीवादी पार्टियों के ऊपर एक बड़ी बढ़त देता है। यह कोई आम पूँजीवादी पार्टी नहीं है, बल्कि एक फ़ासीवादी पूँजीवादी चुनावी पार्टी है। इसके पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का समूचा काडर-आधारित फ़ासीवादी सांगठनिक ढाँचा खड़ा है। **यह केवल चुनावों के दौरान सक्रिय नहीं होता। यह पूरे साल सक्रिय रहता है।** इसके प्रचारक इसकी विचारधारा और राजनीति का प्रचार पूरे साल अपनी शाखाओं, अपने स्कूलों, अपनी सुधार संस्थाओं आदि के ज़रिए करते रहते हैं। ये दीमक के समान समाज के पोरों में लगातार सक्रिय रहते हैं और हमेशा दिखाई नहीं पड़ते। लेकिन तृणमूल धरातल पर व्यापक जनता (विशेषकर, टुटपुँजिया वर्गों और लम्पट मज़दूर वर्ग) के बीच दिमाग़ों में ज़हर घोलने का काम ये लगातार करते रहते हैं।

ये पूँजीवाद के कुकर्मों का दोष किसी न किसी अल्पसंख्यक समुदाय, विशेषकर मुसलमान आबादी पर डालते हैं। लोगों को संघ का प्रचार यह यक़ीन दिलाने

(पेज 3 पर जारी)

दिल्ली की 22,000 आँगनवाड़ी कर्मियों की ऐतिहासिक हड़ताल

केजरी-मोदी सरकारों द्वारा काला क़ानून ‘हेस्मा’ थोपने से लड़ाई रुकेगी नहीं!

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली की 22000 आँगनवाड़ीकर्मियों की लड़ाई पिछले 38 दिनों से जारी थी। हड़ताल दिनों-दिन मज़बूत होती देख बौखलाहट में आम आदमी पार्टी व भाजपा ने आपसी सहमति बनाकर उपराज्यपाल के ज़रिए इस अद्वितीय और ऐतिहासिक हड़ताल पर हरियाणा एसेंशियल सर्विसेज़ मेण्टेनेंस एक्ट के ज़रिए छह महीने की रोक लगा दी है।

हड़ताल ने सिर्फ़ 22-24 प्रतिशत की मानदेय बढ़ोत्तरी हासिल नहीं की है (जिसे आँगनवाड़ीकर्मियों ने नाकाफ़ी बढ़ोत्तरी के तौर पर अस्वीकार किया है) बल्कि आप और भाजपा दोनों पर अभूतपूर्व जीत हासिल

(पेज 7 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

मज़दूर बिगुल के सभी पाठकों और शुभचिन्तकों से...

दोस्तो,

'मज़दूर बिगुल' जिस काग़ज़ पर छपता है, उसकी क़ीमत में पिछले फ़रवरी अंक के बाद से प्रति रीम न्यूनतम 160 रुपये की बढ़ोत्तरी हो गयी है। 540 रुपये रीम से सीधे 700 रुपये (कहीं-कहीं 750 भी है)। यानी अख़बार की लागत में प्रति कॉपी लगभग 80-85 पैसे का इज़ाफ़ा सिर्फ़ पिछले एक महीने में हो गया है। हम सबसे मामूली क़िस्म का न्यूज़प्रिण्ट इस्तेमाल करते हैं। थोड़े बेहतर क़िस्म का न्यूज़प्रिण्ट तो और भी महँगा होकर 950 से लेकर 1050 रुपये प्रति रीम तक जा पहुँचा है। इसके पहले भी छपाई की लागत लगातार बढ़ती रही है। ख़ासकर काग़ज़ की क़ीमतें तो पिछली जुलाई से फ़रवरी के बीच ही 60-70 रुपये प्रति रीम बढ़ गयी थीं। अभी इनके और बढ़ने की सम्भावना है। किताबों की छपाई में लगने वाले काग़ज़ की क़ीमतें भी पिछले चन्द महीनों में बेतहाशा बढ़ी हैं।

चौतरफ़ा बढ़ती महँगाई की ख़बरों के बीच काग़ज़ जैसी शै के दामों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की शायद ही कभी चर्चा होती है। इलेक्ट्रॉनिक और सोशल मीडिया के दौर में और "पीडीएफ़" से पढ़ने के चलन के बीच बहुत-से लोगों को लग सकता है कि छपी सामग्री महँगी होने से ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है। मगर ऐसा है नहीं।

'मज़दूर बिगुल' सैकड़ों व्हॉट्सऐप ग्रुपों, क़रीब 30,000 पतों वाली सुस्थिर ईमेल लिस्ट, वेबसाइट और फ़ेसबुक के ज़रिए हज़ारों पाठकों तक पहुँचता है, लेकिन हमारे सबसे मूल्यवान पाठक वे हैं जिनके हाथों में अख़बार की छपी प्रतियाँ पहुँचती हैं। हर महीने कभी 5000, कभी 6000 प्रतियाँ ही हम छाप पाते हैं जिनका एक छोटा हिस्सा डाक से सदस्यों को भेजा जाता है। ज़्यादातर प्रतियाँ विभिन्न शहरों में मज़दूरों की बस्तियों या कारख़ाना इलाक़ों में कार्यकर्ताओं के ज़रिए वितरित होती हैं। और बड़ी संख्या तक नहीं पहुँच पाना हमारी अपनी सीमा है।

क़रीब 12 वर्ष पहले 16 पेज के इस अख़बार की शुरुआत 5 रुपये क़ीमत से हुई थी। तबसे प्रेस की दरें लगभग दोगुनी और काग़ज़ की क़ीमत तीन गुनी हो चुकी हैं। तब भी आर्थिक संकट अक्सर रहता ही था मगर अब अख़बार की सिर्फ़ छपाई का ख़र्च इसकी क़ीमत के बराबर पहुँच रहा है। डाक और अन्य ख़र्चों को तो छोड़ ही दें। अख़बार की कुल लागत से कई गुना कमाई विज्ञापनों से करने वाले बुर्जुआ अख़बारों के लिए लागत बढ़ना कोई ख़ास समस्या नहीं है। लेकिन 'मज़दूर बिगुल' और इस जैसे अनेक जनपक्षधर अख़बारों, पत्रिकाओं और प्रकाशनों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है।

लेनिन के ये शब्द हमें भूलने नहीं चाहिए : " "विशुद्ध लोकतंत्र" का एक और ख़ास नारा है "प्रेस की आज़ादी"। और यहाँ भी, मज़दूर जानते हैं – और हर जगह के समाजवादी लाखों बार इसे मान चुके हैं – कि यह आज़ादी एक धोखा है क्योंकि सबसे अच्छे और बड़े प्रिण्टिग प्रेसों और काग़ज़ के सबसे बड़े भण्डारों पर पूँजीपतियों का क़ब्ज़ा है..."

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के अपने अख़बार के ज़रिए लोगों तक पहुँचें?

तो क़लम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।

'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।

आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।

आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं : www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

विधानसभा चुनावों में भाजपा की फिर से जीत के कारण क्या हैं?

(पेज 1 से आगे)

की कोशिश करता है कि देश की सभी प्रमुख समस्याओं के दोषी मुसलमान हैं और यदि वे न हों तो देश को वापस उसके प्राचीन अतीत के गौरव तक पहुँचाया जा सकता है। **वास्तव में, ऐसा कोई शुद्ध गौरवशाली अतीत था ही नहीं और हर देश की तरह भारत के अतीत में भी जनता का गौरवशाली इतिहास भी शामिल है और शासक वर्गों के कुकर्मों का काला इतिहास भी शामिल है।**

लेकिन संघ परिवार एक शुद्ध रूप से गौरवशाली हिन्दू अतीत का मिथक या झूठ रचता है और बेरोज़गारी, ग़रीबी, अनिश्चितता, असुरक्षा से परेशानहाल टुटपुँजिया व मेहनतकश आबादी को यह यक़ीन दिलाता है कि मुसलमानों को सबक़ सिखाकर वापस उस अतीत को हासिल किया जा सकता है जिसमें सबकुछ अच्छा हो जायेगा! और ऐसा करने के लिए एक मज़बूत नेता (जैसे कि मोदी और योगी!) की ज़रूरत है, जो राष्ट्र को उन्नति के उस शिखर पर पहुँचा दे! लोग यह भूल जाते हैं कि इन फ़ासीवादी नेताओं की मज़बूती किस वर्ग के पक्ष में खड़ी है और वह किस प्रकार पूँजीपति वर्ग की सेवा करती है और मज़दूर वर्ग और मेहनतकश अवाम को दबाने के काम आती है। बहरहाल, इसी कहानी को इतनी बार दुहराया जाता है कि अपने जीवन की परेशानियों से थकी व्यापक टुटपुँजिया आबादी और मेहनतकश आबादी के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को वाक़ई अपने दुश्मन के तौर पर मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक नज़र आने लगते हैं और उसे लगता है कि ऐसा कोई "मज़बूत नेता" आयेगा और "रामराज" स्थापित करके चुटकियों में उसकी समस्याओं का समाधान कर देगा।

लेकिन सच्चाई यह है कि व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन में मौजूद सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा के लिए मौजूदा मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था ज़िम्मेदार है। लोगों को भोजन नहीं मिलता तो इसका कारण यह नहीं है कि भोजन की कमी है, या यदि उनको कपड़ा या मकान व अन्य ज़रूरी संसाधन नहीं मिलते तो इसका यह कारण नहीं है कि उनकी कमी है। फिर कारण क्या है? कारण वह व्यवस्था है जो मुनाफ़े पर टिकी है न कि समाज के लोगों की ज़रूरतों को पूरा करने पर। ऐसी व्यवस्था में चाहे बच्चे भूख से मरते हों, औरतें कुपोषित हों, मज़दूर भूख और कुपोषण के शिकार हों, लेकिन अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला समेत समूचे पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा सुरक्षित रहना चाहिए। स्वयं मोदी सरकार इस पूँजीपति वर्ग की सबसे बड़ी सेवक है। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है। बेरोज़गारी का कारण भी मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था ही है, वरना जिस देश में पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन हों और पर्याप्त श्रम करने योग्य लोग हों, वहाँ बेरोज़गारी होनी ही नहीं चाहिए। क्योंकि प्राकृतिक संसाधनों व मानवीय श्रम के मेल से ही रोज़गार पैदा होता है। लेकिन चूँकि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा सुरक्षित रखना होता है, इसलिए देश में 60 करोड़ से ज़्यादा लोग 10-12 घण्टे काम करते हैं, जबकि दूसरी ओर 30 करोड़ लोग बेरोज़गार घूमते हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि लोग कोल्हू के बैल के समान 12 घण्टे खटने की बजाय 6 घण्टे काम करें और बदले में 60 करोड़ नये रोज़गार पैदा किये जायें? हो सकता है। लेकिन मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में नहीं क्योंकि इससे पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा मारा जायेगा।

पूँजीवादी व्यवस्था के इन्हीं कुकर्मों को छिपाने और उसके लिए मुसलमानों या अन्य अल्पसंख्यकों को ज़िम्मेदार ठहराकर एक नक़ली दुश्मन खड़ा करने का काम फ़ासीवाद करता है। यही काम भारत में संघ परिवार करता है। यह व्यापक जनता के बीच मौजूद धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल करता है, उनकी पिछड़ी चेतना का लाभ उठाता है और अपने ही वर्ग भाइयों व बहनों को उनका दुश्मन बना देता है। किसलिए? ताकि पूँजीपति वर्ग और पूँजीवाद को कठघरे से बाहर कर सके। दूसरे शब्दों में, यह पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग की सेवा के लिए टुटपुँजिया वर्गों की असुरक्षा का इस्तेमाल करता है और उनका एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करता है, जिसके निशाने पर मज़दूर वर्ग, उनकी ट्रेड यूनियनें, अल्पसंख्यक समुदाय, और प्रगतिशील शक्तियाँ होती हैं। जो भी इस प्रतिक्रियावादी उभार के तानाशाहाना नायक (जैसे कि मोदी) के विरुद्ध होता है, उसे "राष्ट्र-विरोधी" क़रार दे दिया जाता है और फ़ासीवादी सरकार ही देश या राष्ट्र बन जाती है। जो मोदी का विरोध करे, वह राष्ट्रद्रोही या देशद्रोही क़रार दे दिया जाता है।

यह पूरा काम संघ परिवार व भाजपा अपने काडरों के व्यापक नेटवर्क के ज़रिए करते हैं, जिसे वे 1925 से पूरे देश में फैलाने का काम कर रहे हैं। अपनी लाखों शाखाओं, अपने सरस्वती शिशु मन्दिरों, सुधार की संस्थाओं व प्रचार माध्यमों के ज़रिए करोड़ों टुटपुँजिया वर्गीय लोगों में लगातार धार्मिक उन्माद और साम्प्रदायिकता का ज़हर भरा जाता है। इनके प्रचारक सालभर सक्रिय रहकर यह काम करते हैं।

यह संघ परिवार की वास्तविक शक्ति है और इसे चुनौती केवल और केवल मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी ही दे सकती है, जो स्वयं एक अनुशासित और बोल्शेविक उसूलों पर बना संगठन होती है। आज इनका उभार उस मंज़िल में है, जिसमें यह काम न तो कांग्रेस कर सकती है, न सपा, न बसपा, न माकपा, न भाकपा, न भाकपा (माले)। कई प्रदेशों में क्षेत्रीय बुर्जुआज़ी की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियाँ अपने प्रदेश में कुछ समय के लिए भाजपा को सत्ता में आने से रोक सकती हैं। लेकिन उन्हीं प्रदेशों में ऐसी पार्टियाँ भी हैं, जो भाजपा के साथ गठबन्धन बनाकर सरकार भी बनाती रहती हैं। देश स्तर पर फ़िलहाल अभी कोई गठबन्धन या कांग्रेस भाजपा को चुनावी मैदान में चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। यदि बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी और आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा का ही प्रकोप एक स्थिति से अधिक बढ़ता है, तो भाजपा चुनाव हार सकती है लेकिन वह विपक्ष की शक्तियों की जीत से ज़्यादा भाजपा की हार होगी। लेकिन अभी भाजपा सरकार इसे भी रोकने के लिए एक विशेष क़दम उठा रही है : सबसे ग़रीब आबादी के लिए ख़ैराती कल्याणकारी योजनाएँ, मुफ़्त राशन आदि, जो कि इस निर्धनतम जनता के लिए भीख से ज़्यादा कुछ नहीं है, लेकिन उनकी हालत इतनी बुरी है कि यह ख़ैरात भी उनका वोट भाजपा की ओर स्थानान्तरित कर देती है और ख़ासकर तब जबकि इसे हिन्दुत्व की राजनीति से मिश्रित कर उनकी धार्मिक भावनाओं का भी इस्तेमाल किया जाता है।

2. विशेष तौर पर बड़े पूँजीपति वर्ग और आम तौर पर समूचे पूँजीपति का भारी आर्थिक समर्थन

यह दूसरा आम कारक है जो कि भाजपा को पूँजीवादी चुनावी राजनीति में फ़िलहाल एक अजेय शक्ति बनाता है। यहाँ तक कि जब भाजपा बहुमत नहीं भी जीत पाती है तो पूँजीपति वर्ग के प्रचण्ड आर्थिक समर्थन की वजह से वह बहुमत ख़रीद तक लेती है! **सामान्य तौर पर, यह कहा जा सकता है कि जिस पूँजीवादी चुनावी पार्टी को पूँजीपति वर्ग के सबसे बड़े हिस्से और सबसे बड़े पूँजीपतियों का समर्थन हासिल होता है आम तौर पर वही चुनावों के खेल में भी जीतती है।**

सभी जानते हैं कि पूँजीपति वर्ग द्वारा चुनावी पार्टियों को मिलने वाले चन्दे का 85 प्रतिशत तक हिस्सा आज अकेले भाजपा को मिल रहा है। भाजपा की आर्थिक शक्तिमत्ता ज़बर्दस्त है। वह टेलीविज़न चैनलों, मीडिया व पत्रकारों को ख़रीद सकती है, वह वोट ख़रीद सकती है, बहुमत न मिलने पर दूसरी पार्टियों के विधायकों-सांसदों को ख़रीद सकती है और यह सारा काम खुलेआम होता है। अब यह आम बात है कि हर चुनावों के बाद बाक़ी पार्टियाँ अपने विधायकों-सांसदों को ख़रीदे जाने से बचाने के लिए फ़ार्महाउसों और होटलों में क़ैद करती हैं! पूँजीवादी राजनीति इतने नंगे तौर पर बाज़ारू हो चुकी है कि एक बच्चा भी समझ सकता है कि सारा खेल पैसे का पैसे वालों का है, इसमें मज़दूरों-मेहनतकशों की कोई जगह हो ही नहीं सकती है।

देश-विदेश से पूँजीपतियों, उच्च मध्यवर्ग, धनी एनआरआई लोगों द्वारा संघ परिवार और भाजपा को मिलने वाला आर्थिक सहयोग अकूत है। सवाल यह है कि पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्सा का यह प्रचण्ड आर्थिक समर्थन एकतरफ़ा तरीक़े से भाजपा की ओर क्यों स्थानान्तरित हुआ है। कारण स्पष्ट है।

भाजपा पूँजीपति वर्ग की सेवा और चाकरी जिस प्रतिबद्धता से करती है, अन्य कोई पूँजीवादी पार्टी उस तरह से नहीं कर सकती। चाहे वह बैंकों के हज़ारों करोड़ रुपये के क़र्ज़ डकार जाने की छूट देना हो, हर वर्ष हज़ारों करोड़ के पैकेज पूँजीपतियों को सौंपने हों, उन्हें करों से छूट देनी हो, कौड़ियों के दाम ज़मीन, पानी, बिजली मुहैया कराना हो, इसमें भाजपा का कोई जोड़ नहीं है। साथ ही मज़दूर वर्ग के प्रतिरोध और उसकी हड़तालों व आन्दोलनों को बर्बरता से कुचलने के मामले में भी अन्य सभी पूँजीवादी पार्टियाँ भाजपा से मीलों पीछे हैं। न सिर्फ़ मज़दूर आन्दोलनों को भाजपा की सरकारें कुचलने का काम करती हैं, बल्कि उन्हें धर्म और जाति के नाम पर भीतर से तोड़ने में भी भाजपा का कोई सानी नहीं है। भाजपा सरकार द्वारा लाये गये नये लेबर कोड पूँजीपति वर्ग की लूट के रास्ते से सारी बाधाएँ ख़त्म करने के लिए ही लाये गये हैं। अब इनके लागू होते ही मज़दूरों से क़ानूनी तौर पर 10-12 घण्टे काम करवाने, उनके लिए यूनियन बनाना कठिन करने और उनके संघर्षों को कुचलने का पूरा इन्तज़ाम हो जायेगा।

इस समय पूँजीपति वर्ग को इसी की तो ज़रूरत है। 2011-12 से ही भारत का पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की गिरती दरों के संकट का शिकार है। मन्दी से निपटने के लिए उसे मज़दूर वर्ग के शोषण को बढ़ाने और इस प्रकार मुनाफ़े की औसत दर को बढ़ाने की ज़रूरत है। इसके रास्ते में पुराने श्रम क़ानून थोड़ी-मोड़ी बाधा पैदा करते थे क्योंकि वे भी 93 प्रतिशत मज़दूरों के लिए लागू ही नहीं होते थे, जो अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। लेकिन जो थोड़े-बहुत संगठित व औपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों के लिए लागू होते हैं, वे भी अब पूँजीपति वर्ग की आँखों में चुभ रहा है क्योंकि वह मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से इस समय बुरी तरह से बिलबिला रहा है। इसी संकट से मुक्त करने के लिए मोदी सरकार बड़े पूँजीपति वर्ग को तोहफ़ों पर तोहफ़े दे रही है और साथ ही मज़दूर वर्ग के खुले, नंगे और बर्बर शोषण के रास्ते में आने वाले हर रोड़े को हटा रही है।

पूँजीपति वर्ग की इस अभूतपूर्व और अद्वितीय चाकरी के कारण ही पूँजीपति वर्ग का बड़ा हिस्सा एकमत होकर मोदी और भाजपा को समर्थन दे रहा है। उन्हें यह भी समझ आता है कि मज़दूर आन्दोलन को कुचलने और उसके मुक़ाबले टुटपुँजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी फ़ासीवादी आन्दोलन खड़ा करने का काम भी यही संघ परिवार और भाजपा कर सकते हैं। यही कारण है कि उन्हें पूँजीपति वर्ग का ज़बर्दस्त आर्थिक समर्थन भी प्राप्त है और इसी के बूते भाजपा की विराट चुनावी मशीनरी लगातार सक्रिय रहती है, चाहे वह मीडिया, पत्रकारों, आदि को ख़रीदने का काम हो, वोट ख़रीदने का काम हो, अन्य पार्टियों के विधायकों, सांसदों व नेताओं को ख़रीदने का काम हो। यह दूसरा सबसे अहम कारक है जो संघ परिवार और भाजपा को एक ऐसी शक्ति बना देता है जिससे अन्य पूँजीवादी पार्टियाँ फ़िलहाल निपट नहीं सकती हैं।

इसका एक कारण तो अन्य पूँजीवादी पार्टियों को पूँजीपति वर्ग से मिलने वाले आर्थिक समर्थन में आयी भारी कमी है, लेकिन साथ ही पूँजीवादी राजनीति की अन्य धाराओं का विगत चार दशकों में अभूतपूर्व रूप से हुआ पतन भी इसका लिए ज़िम्मेदार है। आज से तीन-चार दशक पहले समाजवादियों के दलों के नेतागण भी तमाम मुद्दों पर सड़कों पर उतरा करते थे, हालाँकि वे ऐसा छोटे पूँजीपति वर्ग और खाते-पीते मध्यवर्ग के हितों के लिए ही ज़्यादा करते थे या फिर कभी वे मज़दूर वर्ग के बारे में बोलते भी थे तो पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करने के लिए और सुधारवादी नज़रिए से। लेकिन कम-से-कम तब वे सड़कों पर एक हद तक उतरते थे। लेकिन अब वह दौर भी बीत चुका है। कांग्रेस के लिए यह दौर और भी पहले बीत चुका था। संशोधनवादी पार्टियों की भी यही हालत है और जब कभी वे सड़कों पर उतरती हैं तो भी रस्म अदायगी के तौर पर और यह रस्म अदायगी भी वे व्यापक मज़दूर आबादी के लिए नहीं करतीं बल्कि बैंक-बीमा क्षेत्र में काम करने वाले सफ़ेद कॉलर कर्मचारियों के लिए ज़्यादा करती हैं। बाक़ी मज़दूर आन्दोलन में उनकी भूमिका विश्वासघात और समझौतापरस्ती की ही हुआ करती है। यही कारण है कि इनकी जो थोड़ी-बहुत शक्ति बची थी उसमें भी पिछले दो दशकों में तेज़ी से गिरावट आयी है। कुल मिलाकर यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि तमाम पूँजीवादी पार्टियाँ केवल चुनाव के पहले के तीन-चार महीनों में सक्रिय होती हैं, जबकि भाजपा और संघ परिवार की समूची मशीनरी पूरे साल सक्रिय रहती है और अपने प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन को मज़बूत बनाने में लगी रहती है। इस प्रकार की राजनीति और कोई भी पूँजीवादी राजनीतिक दल नहीं कर रहा है। भाजपा और संघ परिवार अपनी विचारधारा और राजनीति को लेकर अपने काडर-आधारित सांगठनिक ढाँचे के साथ इस काम को लगातार अंजाम दे रहे हैं।

3. आर्थिक संकट हमेशा ही प्रतिक्रिया और अक्सर फ़ासीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देता है

तीसरा आम कारक जिसने संघ परिवार और भाजपा की पूँजीवादी राजनीति को देश में हाशिये से निकालकर सबसे ताक़तवर स्थान पर पहुँचा दिया है वह है आर्थिक संकट का सन्दर्भ जिसमें हमेशा ही प्रतिक्रियावादी राजनीति की विभिन्न विषैली बेलें पनपती हैं। सिर्फ़ काडर-आधारित संगठन के आधार पर ही भाजपा को यदि शीर्ष पर पहुँचना होता तो वह 1980 के दशक के पहले ही अपने उभार पर जाना शुरू कर देती। 1980 के दशक से भाजपा को पूँजीपति वर्ग का मिलने वाला समर्थन भी लगातार बढ़ता गया है। लेकिन भाजपा और संघ परिवार का फ़ासीवादी संगठन अपने आपको टुटपुँजिया वर्ग के एक फ़ासीवादी आन्दोलन में तब्दील करने का काम 1980 के दशक से और विशेष तौर पर राम मन्दिर आन्दोलन के दौर से ही कर पाया। उसकी एक वजह थी।

वजह यह थी कि 1970 के दशक से ही एक आर्थिक मन्दी ने देश को अपनी जकड़बन्दी में लेना शुरू कर दिया था। वैश्विक मन्दी का असर भारतीय

(पेज 4 पर जारी)

विधानसभा चुनावों में भाजपा की फिर से जीत के कारण क्या हैं?

(पेज 3 से आगे)

अर्थव्यवस्था पर भी नज़र आ रहा था। 1987 में वैश्विक अर्थव्यवस्था का संकट अभूतपूर्व रूप से गहराया और इसका असर भी भारतीय अर्थव्यवस्था तक पहुँचा। भारत की पब्लिक सेक्टर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था 1960 के उत्तरार्द्ध से ही आन्तरिक संकटों से ग्रस्त थी। 1980 के दशक में कुछ समय के लिए एक तेज़ी का दौर भी आया था लेकिन 1980 के दशक के ख़ात्मे तक वह तेज़ी मन्दी में तब्दील हो चुका था। जैसे-जैसे मन्दी गहरायी वैसे-वैसे भारतीय समाज में टुटपुँजिया वर्ग की प्रतिक्रिया का आधार भी गहराया। इन टुटपुँजिया वर्गों का सबसे बड़ा डर और दुस्वप्न था मज़दूर बन जाने का डर। इसी डर का भाजपा और संघ परिवार ने जमकर इस्तेमाल किया। और यही कारण था कि 1980 के दशक, विशेष तौर पर उसके मध्य और उत्तरार्द्ध से भाजपा और संघ परिवार का फ़ासीवाद एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन की शक्ल लेता गया। यह संकट कभी थोड़ा कम कभी थोड़ा ज़्यादा रहते हुए जारी रहा और 2007 में वैश्विक महामन्दी की शुरुआत और 2011-12 तक इसके असर के भारतीय अर्थव्यवस्था में विकराल रूप में अभिव्यक्त होने के साथ फ़ासीवादी उभार भी और तेज़ हुआ और अन्ततः 2014 में मोदी की जीत के साथ अपने नये मुक़ाम पर पहुँचा।

इसलिए आर्थिक मन्दी और संकट की भारत में फ़ासीवाद के उभार में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वास्तव में, हर देश में ही फ़ासीवादी उभार के पीछे मौजूद बुनियादी अन्तर्विरोध आर्थिक संकट ही रहा है, हालाँकि तात्कालिक तौर पर प्रधान अन्तर्विरोध की भूमिका पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक संकट ने निभायी है। भारत में भी पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक संकट को 2008-9 से 2011-12 तक सामने आये विशालकाय घोटालों में देखा जा सकता है, जो कि आम तौर पर पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक संकट की ही अभिव्यक्ति हुआ करते हैं। इसी पृष्ठभूमि में भाजपा पहली बार पूर्ण बहुमत के साथ 2014 में सत्ता में पहुँची थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक संकट के समाप्त होने पर फ़ासीवादी उभार का अवसान भी शुरू हो जायेगा। यह अनिवार्य नहीं है। लेकिन यह भी तय है कि उसके उभार के पीछे आम आर्थिक और राजनीतिक सन्दर्भ तैयार करने का काम आर्थिक संकट ने ही किया है। **यह आर्थिक संकट ही है जिससे उपजी असुरक्षा टुटपुँजिया वर्गों की फ़ासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनाती है और यही पूँजीपति वर्ग को भी फ़ासीवाद को प्रचण्ड समर्थन देने की ओर ले जाती है।**

●

उपरोक्त तीन सामान्य कारक हैं जो आम तौर पर भाजपा को सभी चुनावों में अन्य चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियों पर एक बढ़त देते हैं और जो हाल अन्य पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों का हो चुका है, उसमें ये भाजपा को उपरोक्त कारणों से चुनौती देने की स्थिति में नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि चुनावों में भाजपा नहीं हार सकती है। लेकिन यह भी सही है कि वर्तमान स्थिति में यह भाजपा की हार अधिक होगी और विपक्षी पार्टियों की जीत कम। मसलन, बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई और भुखमरी के बढ़ते जाने के साथ भाजपा आर्थिक कारकों के कारण चुनाव हार सकती है और अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग पूँजीवादी पार्टियों को इसका लाभ मिल सकता है। लेकिन उस सूरत में भी यह चुनावी हार संघी फ़ासीवाद की निर्णायक हार नहीं होगी।

बहरहाल, अब हम उन विशिष्ट तात्कालिक कारणों पर चर्चा करते हैं, जो मौजूदा चुनावों में भाजपा की चुनावी जीत का कारण बने।

भाजपा की चुनावी जीत के विशिष्ट तात्कालिक कारक

चुनाव से पहले सभी कयास लगा रहे थे कि योगी सरकार बुरी तरह अलोकप्रिय है। युवाओं के बीच बेरोज़गारी के कारण और बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ हुए आन्दोलन के दमन के कारण भारी असन्तोष है। धनी किसानों व पश्चिमी उत्तर प्रदेश के लोगों के बीच खेती क़ानूनों व लखीमपुर खीरी हत्याकाण्ड को लेकर असन्तोष है। कोरोना महामारी के दौरान आपराधिक कुप्रबन्धन और लाखों की संख्या में हुई मौतों के कारण व्यापक आबादी में असन्तोष है। लेकिन इन सबके बावजूद भाजपा का वोट प्रतिशत बढ़ा। क्यों? यह सच है कि समाजवादी पार्टी के गठबन्धन को भाजपा के वोट प्रतिशत से मात्र 8 प्रतिशत कम वोट मिले और यह असन्तोष वाक़ई था जिसके कारण समाजवादी पार्टी गठबन्धन पहले से अपनी सीटों की संख्या बढ़ा पाया। लेकिन इसके बावजूद यह असन्तोष भाजपा और उसकी योगी सरकार के विरोध में पूरी तरह से रूपान्तरित नहीं हुआ। उल्टे भाजपा का वोट प्रतिशत बढ़ा। यह क्यों हुआ? आइए समझते हैं।

1. सर्वाधिक ग़रीब आबादी के लिए ख़ैराती कल्याणकारी नीतियों और हिन्दुत्व का घातक मिश्रण

यह पहला महत्वपूर्ण कारक है। भाजपा की योगी सरकार ने चुनाव के तीन-चार महीने पहले से ही तमाम ख़ैराती कल्याणकारी नीतियों को लागू किया। मिसाल के तौर पर, श्रम कार्ड के तहत रु. 1500 मज़दूरों के बीच देना, महीने में दो बार 40-40 किलोग्राम तक राशन सर्वाधिक निर्धनतम परिवारों में निःशुल्क बाँटना, ग़रीब किसानों को रु. 6000 सालाना देना, बैंक में नक़दी स्थानान्तरण करना, आदि। इसके अलावा, प्रधानमंत्री आवास योजना के तहत अचानक तेज़ी से पैसे दिये जाने लगे, गैस सिलिण्डर कनेक्शन बाँटने की रफ़्तार भी तेज़ कर दी गयी। आचार संहिता लागू होने के बाद भी योगी सरकार ये काम करती रही और भाजपा की जेब में बैठा चुनाव आयोग यह सब मूक दर्शक बना देखता रहा।

जैसा कि आप देख सकते हैं ये कल्याणकारी नीतियाँ किसी ग़रीब को ग़रीबी के जीवन से बाहर नहीं निकाल सकती हैं। ये मामूली ख़ैरात थीं जो कि ग़रीब परिवारों को भुखमरी के स्तर पर ज़िन्दा रखने के लिए भी मुश्किल से ही सक्षम थीं। लेकिन जो निर्धनतम परिवार हैं, जो सबसे ग़रीब दलित खेतिहर मज़दूर हैं, असंगठित क्षेत्र के मज़दूर हैं, उनके लिए यह फिर भी भाजपा को समर्थन देने का एक कारण बन गया क्योंकि उनके जीवन के हालात इतने हताशापूर्ण थे, कि इस मामूली ख़ैरात से भी उन्हें कुछ तात्कालिक राहत मिलती महसूस हुई। **इसके साथ ही व्यापक निर्धनतम खेत मज़दूर व असंगठित मज़दूर आबादी में इस प्रकार के ख़ैराती कल्याणवाद को धर्म और योगी के सन्यासी बाबा होने की छवि के साथ मिश्रित किया गया। कम राजनीतिक चेतना के कारण ख़ैराती कल्याणवाद और हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिकता का मिश्रण भाजपा के लिए फ़िलहाल काम कर गया।**

इसकी एक वजह यह भी थी कि सबसे ग़रीब मज़दूर और दलित आबादी के जीवन के हालात पहले से इतने बुरे हैं कि इतनी मामूली ख़ैरात भी एक कारक बन गयी, जबकि उल्टे इसे व्यापक ग़रीब आबादी में ग़ुस्से और अपमान का कारण बनना चाहिए था। ऐसा न होने के दो कारण रहे। पहला, इस ख़ैराती कल्याणवाद को धर्म के साथ मिश्रित करना और दूसरा इस आबादी में राजनीतिक चेतना की भारी कमी। निश्चित तौर पर, राजनीतिक चेतना में इस कमी के लिए देश का क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन भी ज़िम्मेदार है। इस आन्दोलन का बड़ा हिस्सा हाल ही में ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों के शोषकों-उत्पीड़कों धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन की पूँछ पकड़कर घूम रहा था जो कि एमएसपी जैसी जनविरोधी माँग पर हो रहा था जो समूची ग़रीब जनता को नुक़सान पहुँचाता है। ऐसे ही कुलकवादी कम्युनिस्ट इस बात का मज़ाक़ उड़ा रहे थे कि मोदी व योगी की सरकारों द्वारा ग़रीब किसानों को साल के रु. 6000 देने से क्या फ़र्क़ पड़ता है? इसका असर इन्हें इसलिए नहीं समझ आया क्योंकि इनकी आँखों पर कुलकों-धनी किसानों का चश्मा लग चुका था। एक ग़रीब किसान परिवार जो अपने खानेभर के भोजन का एक हिस्सा पैदा कर लेता है और बाक़ी उसके सदस्य उजरती श्रम करते हैं, उनकी असली समस्या नक़दी की कमी की होती है। काम मिलने की अनिश्चितता और बढ़ती बेरोज़गारी के कारण यह समस्या हालिया दिनों में और भी ज़्यादा गहरा गयी थी। उसके लिए सालभर का एक साथ रु. 6000 मिलना उसे कुछ राहत का झूठा अहसास देता है। यह ख़ैरात भी उसकी हताशापूर्ण स्थिति में कुछ राहत का भ्रम पैदा करती है। निश्चित तौर पर, धनी किसानों-कुलकों के लिए इसका कुछ भी अर्थ नहीं है। लेकिन औसतन रु. 12-13 प्रति व्यक्ति प्रतिदिन कमा पाने वाले निर्धनतम किसान व खेतिहर मज़दूर परिवार के लिए यह रक़म भी मायने रखने लगती है क्योंकि उसे पूँजीवादी व्यवस्था ने पहले ही रसातल में पहुँचा दिया है। ऊपर से क्रान्तिकारी शक्तियों की उनके बीच अनुपस्थिति (क्योंकि उनका बहुलांश तो कुलकों की ट्रॉलियों में सवार है!) उनके बीच राजनीतिक चेतना की कमी के लिए भी ज़िम्मेदार है, जिसके होने पर ये ख़ैरात किसी राहत का भ्रम पैदा करने की बजाय उनमें और ज़्यादा ग़ुस्सा और असन्तोष पैदा करती। यही बात शहर के असंगठित मज़दूरों पर भी लागू होती है। उनके बीच भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों की उपस्थिति बेहद कम है। तमाम कम्युनिस्टों को लगता है कि केवल बड़े कारख़ानों में काम करने वाला संगठित मज़दूर ही क्रान्तिकारी क्षमता रखता है, इसलिए वे असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों की विशाल आबादी की उपेक्षा करते हैं। संघ परिवार और भाजपा अपने ख़ैराती कल्याणवाद और हिन्दुत्ववाद के मिश्रण से इसी आबादी को लक्षित कर रहे हैं और उसका असर बीते विधानसभा चुनावों में साफ़ तौर पर नज़र आया है।

इससे जुड़ा हुआ सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार यह है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियाँ इस ग़रीब-दलित किसान व खेतिहर मज़दूर आबादी में अपनी जड़ों को मज़बूत करें, उनके बीच संजीदगी और धैर्य से राजनीतिक कार्य करें, उनकी राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन करें और उनके बीच सांस्कृतिक कार्य और सुधार कार्य के ज़रिए साम्प्रदायिकता और हिन्दुत्व की जड़ों पर हमला करें। इसके बिना फ़ासीवाद को पराजित करने का सपना देखना शेख़चिल्ली का सपना बन जायेगा। और जब हम फ़ासीवाद की पराजय की बात कर रहे हैं, तो उसका अर्थ चुनावी पराजय नहीं बल्कि फ़ासीवाद के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करने की बात कर रहे हैं। अगर ऐसा जनान्दोलन खड़ा होता है, तो आम तौर पर समाज में फ़ासीवादी शक्तियाँ अपनी पकड़ को खोयेंगी और उनके लिए चुनावों में भी अच्छा प्रदर्शन कर पाना मुश्किल होगा। अपने आप में महज़ एक चुनावी रणनीति कभी भी फ़ासीवाद को शिकस्त नहीं दे सकती है।

2. ग़ैर-जाटव दलित और ग़ैर-यादव पिछड़ी जातियों के और आंशिक तौर पर जाटव दलित आबादी के वोट का बड़े पैमाने पर भाजपा को जाना कोई जातिगत परिघटना नहीं बल्कि वर्गीय परिघटना है

यह पहले कारक से जुड़ा हुआ कारक है। इस चुनाव में मुसलमान व यादव वोट बड़े पैमाने पर सपा गठबन्धन को गया और उसके वोट प्रतिशत और सीटों में बढ़ोत्तरी का मुख्य कारण यही था। लेकिन इसके मुक़ाबले भाजपा की ओर ग़ैर-जाटव दलित वोटों और ग़ैर-यादव ओबीसी वोटों का स्थानान्तरण निरपेक्ष अर्थों में कहीं ज़्यादा था। इसकी वजह क्या रही? **इसकी वजह यह है कि इस दलित और ओबीसी आबादी का बड़ा हिस्सा ग़रीब किसान व खेतिहर मज़दूरों तथा असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का है। ठीक यही आबादी है जिसके बीच योगी सरकार ने वह ख़ैराती कल्याणवाद और हिन्दुत्व का मिश्रण पेश किया है, जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है।**

कई अस्मितावादी विश्लेषक और यहाँ तक कि तथाकथित कम्युनिस्ट भी इसे एक जातिगत परिघटना के रूप में देख रहे हैं कि योगी की जीत इसलिए हुई क्योंकि फलाँ-फलाँ जातियों ने सपा गठबन्धन को वोट नहीं दिया इसलिए अखिलेश यादव नहीं जीत पाये। मामला इतना सीधा नहीं है। साथ ही इस पूरे "विश्लेषण" से विश्लेषण ग़ायब है क्योंकि विश्लेषण का अर्थ होता है कारणों की पड़ताल करना। इन जातियों के वोट का भाजपा की ओर बड़े पैमाने पर पिछले आठ वर्षों में स्थानान्तरित होना दिखाता है कि अपने विचारधारात्मक व राजनीतिक प्रचार के ज़रिए, ख़ैराती कल्याणवाद और हिन्तुत्ववाद के मिश्रण के ज़रिए कमण्डल की राजनीति ने मण्डल की राजनीति को बेअसर कर दिया है। वजह क्या है? वजह यह है कि मण्डल की राजनीति करने वालों के पास कोई विचारधारात्मक व राजनीतिक हथियार नहीं है, सिवाय आरक्षण की राजनीति के। वे एक बेहद दरिद्र क़िस्म का अस्मितावाद चलाते हैं, जो कि जातिगत अस्मिता पर आधारित है। चूँकि जातियाँ स्वयं अन्दरूनी तौर पर भी अस्मिताओं और उपअस्मिताओं में टूटी हुई हैं और समूची पिछड़ी आबादी और समूची दलित आबादी के लिए दो विराट अस्मिताओं का निर्माण कर भाजपा के हिन्दुत्ववादी अस्मितावाद का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता है। **अस्मितावाद की ही राजनीति करनी होगी, तो उसमें अन्ततः भाजपा ही जीतेगी जो कि देशभर एक एकल हिन्दू अस्मिता बनाने (हिन्दू अस्मिता का सामीकरण या semitization) का काम लम्बे समय से कर रही है और जिस काम को तमाम चुनौतियों के बावजूद करने में वह सफल रही है क्योंकि यह धार्मिक साम्प्रदायिक अस्मिता अस्मितावादी गोलबन्दी की कहीं बड़ी इकाई मुहैया कराती है। दूसरी बात, भाजपा ने जातिगत समीकरणों को और अस्मिताओं को तोड़ा नहीं है, बल्कि स्वयं उसका इस्तेमाल किया है, लेकिन उसे हिन्दुत्व की कहीं ज़्यादा व्यापक ढाँचे में समायोजित और सहयोजित कर लिया है।**

इस काम को करने में एक तरफ़ भाजपा ने टुटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया और हिन्दुत्ववाद के मिश्रण का इस्तेमाल किया है, वहीं निर्धनतम ग़रीब किसान व मज़दूर आबादी में ख़ैराती कल्याणवाद और हिन्दुत्ववाद के मिश्रण का इस्तेमाल किया है। इन दोनों हथियारों के ज़रिए सम्पूर्ण दलित एकता और सम्पूर्ण ओबीसी एकता की उसने धज्जियाँ उड़ा दी हैं क्योंकि वर्गीय कारणों से ऐसी कोई एकता बन ही नहीं सकती है। वर्ग अन्तर्विरोधों को प्रतिक्रियावादी विकृत रूप से अभिव्यक्त करते हुए और उसे हिन्दुत्व के साथ मिश्रित करते हुए संघ परिवार और भाजपा ने सम्पूर्ण दलित एकता और सम्पूर्ण ओबीसी एकता के अस्मितावादी नारे को क़ब्र में पहुँचा

(पेज 5 पर जारी)

विधानसभा चुनावों में भाजपा की फिर से जीत के कारण क्या हैं?

(पेज 4 से आगे)

दिया। **ऊपर से यदि कोई 'बहुजन एकता' की बात करता है, यानी ग़रीब किसान व खेतिहर मज़दूर दलितों तथा उनके प्रमुख शोषक किसान जातियों की एकता की बात, तो उसकी तो आप टोपी फ़ौरन हवा में उछाल दीजिए और उसे किसी मानसिक चिकित्सालय में भर्ती कीजिए! ऐसी कोई बहुजन एकता सम्भव ही नहीं है। दलित मज़दूरों और उनके शोषक और उत्पीड़क धनी व उच्च मध्यम किसानों में कोई एकता कैसे सम्भव है? बहुजन एकता का यह अम्बेडकरवादी सपना पैदा ही एक मरे हुए बच्चे के रूप में हुआ था। इसे दफ़्न करके ही जनता के जनान्दोलनों को आगे बढ़ाया जा सकता है।**

3. भाजपा की जीत में बसपा की अहम भूमिका : आज के दौर में अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद का तार्किक परिणाम

बहुत-से लोग इस बात को पहचान रहे हैं कि भाजपा की जीत सिर्फ़ भाजपा द्वारा अपनी राजनीति और प्रचार के प्रबन्धन पर आधारित नहीं थी, बल्कि भाजपा तमाम विपक्षी पार्टियों की राजनीति और प्रचार को भी प्रबन्धित कर रही थी। इसमें सबसे प्रमुख नाम मायावती की बसपा का है और दूसरा नाम ओवैसी का। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि बसपा की भूमिका के बिना भाजपा की जीत का अन्तर इतना बड़ा नहीं होता। इसको कुछ उदाहरण से समझिए।

एक जानी-मानी पत्रकार ने उत्तर प्रदेश के शहरों और गाँवों का व्यापक दौरा चुनावों के पहले और उसके दौरान किया था। उनके सर्वेक्षण में जो बातें सामने आयीं वे कुछ इस प्रकार हैं।

अधिकांश दलित बस्तियों में, जिनमें जाटव दलित आबादी रहती है, लोग यह कह रहे थे कि बहनजी के आदेश पर इस बार भाजपा को वोट दिया जायेगा क्योंकि मोदी जी इसके बाद बहनजी को राष्ट्रपति बनवायेंगे! **यही कारण था कि पिछले चुनावों में भाजपा को जाटव आबादी का 8 प्रतिशत वोट प्राप्त हुआ था जबकि इस बार यह प्रतिशत बढ़कर 21 प्रतिशत हो गया! बसपा का उत्तर प्रदेश से सूपड़ा साफ़ होने का यही कारण था। यानी भाजपा को न सिर्फ़ ग़ैर-जाटव दलित आबादी का 41 प्रतिशत वोट प्राप्त हुआ, उसे जाटव दलित आबादी का भी 21 प्रतिशत वोट प्राप्त हुआ, जबकि बसपा को जाटव आबादी का भी 27 प्रतिशत वोट ही प्राप्त हुआ। इसके कारण भी वर्गीय हैं, न कि अपने आप में जातिगत जैसा कि ऊपर हमने दिखलाया है।**

साथ ही, यह व्यापक मेहनतकश दलित आबादी में पहचान की राजनीति की गहरी जड़ों को दिखलाता है। उसके लिए अभी भी अस्मितावादी प्रतीकवाद उसके जीवन के ठोस मसलों से ज़्यादा अहम है। उसके लिए मायावती का राष्ट्रपति बन जाना और उसके साथ उसकी जाति की "शान" में इज़ाफ़ा होना ज़्यादा महत्वपूर्ण है, बनिस्बत इसके कि उसे रोज़गार, शिक्षा और चिकित्सा का हक़ मिले, एक बेहतर जीवन मिले। यह अस्मितावाद समूचे दलित मुक्ति के प्रोजेक्ट को लगातार भीतर से कुतर रहा है। इसकी शुरुआत मायावती और कांशीराम से नहीं होती बल्कि अम्बेडकर से ही हो जाती है, जिनकी पूरी परियोजना दलित आबादी के एक हिस्से को सरकारी नौकरियों और ऊँचे पदों तक पहुँचाना और एक बहुजन अस्मिता का निर्माण करना था। उनके युग में इस अस्मितावाद का वह पतन सम्भव ही नहीं था, जो आज मायावती व पासवान व उदित राज जैसों के साथ हम देख रहे हैं। हर राजनीति की एक ऐतिहासिक यात्रा हम देख सकते हैं। आज मायावती, पासवान और उदित राज से इतर भी जो अम्बेडकरवादी राजनीति है, वह कहीं भी अस्मितावाद से आगे नहीं जाती है।

आज मायावती की राजनीति के पूरी तरह से भाजपा और संघ परिवार की गोद में बैठने पर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए। अस्मितावादी राजनीतियों की यात्रा अक्सर इसी प्रकार अपनी परिणति पर पहुँचती है। याद करें, एक समय तमाम वामपन्थी भी कांशीराम और मायावती को बड़ा प्रगतिशील माना करते थे और उसे दलित अस्मिता का उभार बताते थे। लेकिन अब वह अस्मिता का उभार कहाँ पहुँचा, यह सभी के सामने है।

बसपा ने भाजपा को कैसे मदद पहुँचायी? एक उदाहरण से समझिए। पूर्वी उत्तर प्रदेश में फ़ाजिलपुर की सीट से स्वामी प्रसाद मौर्या ने चुनाव लड़ा, जिनका कुछ ग़ैर-यादव ओबीसी जातियों में ख़ासा आधार था। लेकिन बसपा ने उसी सीट से एक अपेक्षाकृत गुमनाम उम्मीदवार खड़ा किया, जो पहले समाजवादी पार्टी में था और मुसलमान था और टिकट न मिलने के कारण नाराज़ था। उसे बसपा ने टिकट दिया और वोटों का ऐसा ध्रुवीकरण किया जिसके कारण वहाँ सपा गठबन्धन की हार हुई। इसी प्रकार अन्य सीटों पर भी कहीं मुसलमान तो कहीं ओबीसी उम्मीदवार खड़ा करके बसपा ने सपा गठबन्धन के काफ़ी वोट काटे। इसलिए बसपा की भूमिका भाजपा की जीत में काफ़ी महत्वपूर्ण थी।

4. झूठे प्रचार को अनन्त दुहराव के ज़रिए सच के तौर पर स्थापित करने की भाजपा की रणनीति

यह फ़ासीवाद की आम ख़ासियत होती है कि वह झूठों को दुहराकर मिथक के रूप में स्थापित कर देता है। मौजूदा चुनावों में भी भाजपा ने कुछ सफ़ेद झूठों को अपनी भारी-भरकम विराट प्रचार मशीनरी द्वारा इतनी बार दुहराया कि वह जनता के लिए एक आकाशवाणी समान सत्य बात बन गयी, मानो यह सबको ही पता है और इसका तो कोई सबूत देने की भी ज़रूरत नहीं है।

(पेज 6 पर जारी)

पंजाब में "आप" की सरकार बनने से क्या राज्य की जनता के जीवन में कोई वास्तविक बदलाव आयेगा?

पंजाब में आम आदमी पार्टी की सरकार बनने जा रही है। दिल्ली के बाद पंजाब में सत्ता पा जाने के बाद लोग-बाग़ आम आदमी पार्टी को कांग्रेस का स्वाभाविक विकल्प और भाजपा का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बताने में लग गये हैं। क्या केजरीवाल की 'आप' के आने के बाद पंजाब का कुछ भला हो पायेगा? यह जानने के लिए हमें पाँच साल इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। बल्कि हम 'आप' के वर्ग चरित्र और केजरीवाल की नीतियों के पिछले इतिहास से ही यह जान सकते हैं कि इनकी नीयत और नियति क्या है, आइए देखते हैं।

पंजाब में 'आप' का सत्ता में आने का सबसे प्रमुख कारण है लोगों का कांग्रेस पार्टी व अकाली दल जैसी जनविरोधी और लुटेरी पार्टियों से बुरी तरह से त्रस्त और ऊबा हुआ होना। इस विकल्पहीनता के बीच केजरीवाल व इनके सिपहसलार राघव चड्डा ने मीडिया को साधकर गोयबल्सीय प्रचार मशीनरी से तथाकथित "दिल्ली मॉडल" के झूठ को इतनी दफ़ा दोहराया कि लोगों को यह सच लगने लगा। राज्य की जनता इसे नये विकल्प के तौर पर देखने लगी। और परिणाम हमारे सामने है। 'आप' को राज्य विधानसभा की 117 सीटों में से 92 सीटें प्राप्त हुई हैं। असल में यह आम आदमी पार्टी की जीत से ज़्यादा कांग्रेस-अकाली दलों की हार अधिक है। इसकी एक और बड़ी वजह भी है। कांग्रेस द्वारा चन्नी को अपना मुख्यमंत्री उम्मीदवार बनाया जाना। चुनाव के बाद हुए तमाम सर्वेक्षणों में यह बात सामने आयी कि पंजाब की जट्ट सिख आबादी और विशेषकर इसके कुलक हिस्से को एक मज़हबी सिख यानी दलित मुख्यमंत्री स्वीकार नहीं था। नवजोत सिंह सिद्धू को इसी कारक को सन्तुलित करने के लिए कांग्रेस ने अपनी नाव में चढ़ा रखा था लेकिन सिद्धू लगातार उसी नाव में नये-नये छेद बनाने में लगे रहे। ऊपर से 'आप' ने अम्बेडकर के नाम को भुनाकर दलित वोट का बड़ा हिस्सा भी चन्नी से छीन लिया, जिस पर ख़ुद दलित आबादी को कांग्रेस की आन्तरिक कलह के कारण भरोसा नहीं हो पा रहा था। 'आप' को मिला वोट मूलतः कांग्रेस की पराजय ज़्यादा है और 'आप' की जीत कम। कांग्रेस अब अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारने की कला में, बल्कि कहना चाहिए कुल्हाड़ी पर पाँव मारने की कला में पूरी तरह से पारंगत हो चुकी है। प्रदेश में विकल्पहीनता, जट्ट सिख आबादी द्वारा चन्नी को अस्वीकार किया जाना और अकाली-कांग्रेस रोटेशन से ऊबी पंजाब की जनता को बहलाने में 'आप' कामयाब रही।

'आप' की राजनीति और इसकी वर्गीय अन्तर्वस्तु की बात की जाये तो इसमें और बाक़ी पूँजीवादी दलों में कोई भी गुणात्मक फ़र्क़ नहीं है। केजरीवाल की राजनीति पूरी तरह से बुर्जुआ सुधारवाद, एनजीओवाद और थोथी जुमलेबाज़ी पर टिकी हुई है। दिल्ली में भी इन्होंने दिल्ली के ठेकेदारों, प्रॉपर्टी डीलरों, दलालों, बड़े व्यापारियों और धन्नासेठों की ही सेवा की है। 'आप' पार्टी छोटे-मँझोले पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करती है। पूँजीवादी व्यवस्था के रक्षक और फ़र्ज़ी विकल्प बन बड़े पूँजीपति वर्ग की सेवा भी ये कर ही रहे हैं। और बड़े-छोटे पूँजीपतियों के बीच कोई शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध भी तो नहीं है। 'आप' को वर्ष 2016-17 में 25 करोड़ रुपये तो वर्ष 2019-20 में 37 करोड़ 52 लाख रुपये चन्दा प्राप्त हुआ था। जिसमें से बड़ा हिस्सा टाटा-बिड़ला-अम्बानी-अदानी जैसे कॉर्पोरेट घरानों के उन्हीं चुनावी ट्रस्टों और कम्पनियों से आया जो भाजपा-कांग्रेस और बाक़ी पूँजीवादी दलों को चन्दा देते हैं। इसके अलावा इन्हें छोटे उद्यमियों से भी बेशुमार चन्दा प्राप्त हुआ। आर्थिक नीतियों के मामले में 'आप' पूर्णतः नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण की नीतियों से सहमत है, जो कि दिल्ली में फ़ैक्टरी मालिकों को लेबर डिपार्टमेण्ट और सेल्स टैक्स आदि से मिली छूट में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

पंजाब की जनता के सामने जिस तथाकथित दिल्ली मॉडल का गुणगान किया गया था वह पूरी तरह से बोगस है। कहाँ हैं वो 500 स्कूल और 20 कॉलेज जिनका वायदा इन्होंने 2015 के विधानसभा चुनावों के दौरान दिल्ली की जनता से किया था? हज़ारों अतिथि अध्यापकों, रोडवेज़ चालकों, कण्डक्टरों, स्वास्थ्य कर्मियों को वायदा करके भी क्यों नहीं पक्का किया गया? 8 लाख नये रोज़गार सृजित करने, दिल्ली सरकार के मातहत ख़ाली पड़े 52,000 पदों की भर्ती करने, ठेकेदारी प्रथा ख़त्म करने और सभी श्रम क़ानूनों को लागू करने के वायदे भी इन्होंने पूरे नहीं किये। हाल ही में चली दिल्ली की 22,000 आँगनवाड़ीकर्मियों की जायज़ हड़ताल को तो केजरीवाल सरकार ने तानाशाहाना अन्दाज़ में कुचलना चाहा। इनकी सरकार ने 38 दिन तक चली हड़ताल के दौरान उनसे बात तक नहीं की और जब भण्डा फूटता दिखायी दिया तो भाजपा के साथ मिलकर दिल्ली के उपराज्यपाल के द्वारा इस जुझारू हड़ताल पर हेस्मा/एस्मा लगवा दिया गया। यही है केजरीवाल के जनवाद की असल तस्वीर! यदि दिल्ली के सरकारी स्कूल इतने ही अच्छे हैं तो केजरीवाल व इनके विधायकों के बच्चे इनमें क्यों नहीं पढ़ते? यदि दिल्ली के अस्पताल और मोहल्ला क्लिनिक इतने ही बेहतर हैं तो अरविन्द केजरीवाल और मनीष सिसोदिया ने प्राइवेट अस्पतालों में लाखों-लाख रुपये क्यों ख़र्च किये? जनता को 200 यूनिट "मुफ़्त बिजली" देने का झुनझुना बजाने वाले केजरीवाल जनता पर करों का बोझ बढ़ाकर निजी बिजली वितरण कम्पनियों का तो एक-एक यूनिट का पैसा चुका ही रहे हैं। दिल्ली में बिजली की सरकारी कम्पनियों को निजी हाथों में देने का श्रेय भी केजरीवाल को ही जाता है।

कुछ मॉडल स्कूल और कुछ मोहल्ला क्लिनिक बनाकर इस गिरोह ने उनका इस्तेमाल फ़र्ज़ी प्रोपेगेण्डा मशीनरी चालू कर अपनी छवि चमकाने के लिए किया और देश की जनता को लगा कि केजरीवाल ने दिल्ली में तो कोई क्रान्ति ही ला दी है! केजरीवाल की दिल्ली सरकार ने मार्च 2020 से जुलाई 2021 के बीच ही अपने फ़र्ज़ी प्रोपेगेण्डा विज्ञापनों पर जनता के 490 करोड़ रुपये फूँक दिये। पिछले सात साल का इनका विज्ञापनों का ख़र्च तो हज़ारों करोड़ में बैठता है। यही है "दिल्ली मॉडल" की असलियत! दिल्ली की आम मेहनतकश जनता के भी हालात वही हैं जो देश की मेहनतकश जनता के हैं। निश्चित तौर पर आम आदमी पार्टी ने जो गुल दिल्ली में खिलाये हैं वही गुल यह पंजाब में खिलाने जा रही है।

सीएए-एनारसी-एनपीआर, कश्मीर से धारा 370 हटाये जाने और राम मन्दिर जैसे तमाम मसलों पर केजरीवाल पूरी तरह से भाजपा की फ़ासीवादी नीतियों के साथ हैं। भाजपा राम मन्दिर के नाम पर लोगों को ठगती है तो केजरीवाल ने हनुमान को अपना इष्ट घोषित कर दिया। ये लोग जनता के पैसे को तीर्थों की सैर और सरकार की पूरी कैबिनेट के साथ बड़े-बड़े स्टेडियमों में पूजा-पाठ पर फूँक रहे हैं। इनके ये सब करतब हिन्दू वोट बैंक को रिझाने के लिए ही तो हैं। केजरीवाल ने लुधियाना में पंजाब के अन्दर हिन्दुओं पर ख़तरे तक की बात कही। यह साम्प्रदायिक कार्ड खेलना ही तो हुआ। केजरीवाल की पतलून के नीचे झाँक रही भगवा निक्कर को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है! भाजपा की बी टीम बनकर भी पाखण्डी केजरीवाल एण्ड कम्पनी समाजवाद के प्रखर चिन्तक और जुझारू योद्धा भगतसिंह की क्रान्तिकारी विरासत को अपनी कुत्सित पूँजीवादी राजनीति के लिए इस्तेमाल करने से नहीं चूक रही है।

देश की तरह पंजाब की मेहनतकश जनता की असल मुक्ति भी तभी सम्भव हो सकती है जब उत्पादन और राजकाज पर मेहनतकश वर्गों का ही क़ब्ज़ा हो। हमें अपने हक़-अधिकार संगठित होकर संघर्ष किये बिना बिल्कुल भी हासिल नहीं होंगे। पंजाब की जनता को यह बात समझनी ही होगी कि विकल्पहीनता के दौर में तमाम बुरे विकल्पों में से केजरीवाल का विकल्प भी कोई भला विकल्प नहीं है। उम्मीद है पंजाब के हमारे जुझारू और लड़ाकू भाई-बहन इस सच्चाई को समझेंगे और मेहनतकश जनता की अपनी फ़ौलादी एकजुटता क़ायम करने पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करेंगे।

एबीजी शिपयार्ड घोटाला

पूँजीवाद अपने आप में ही घोटालों और भ्रष्टाचार का अन्तहीन चक्र है!

– अपूर्व मालवीय

जब से मोदी सरकार आयी है तब से बैंक धोखाधड़ी की ख़बर बहुत आम-सी हो गयी है। ये धोखाधड़ी की घटनाएँ भी दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी करती जा रही हैं। 2015 में विजय माल्या का नौ हज़ार करोड़ का घोटाला सामने आया था! 2018 में नीरव मोदी का चौदह हज़ार करोड़ का घोटाला सामने आया और अब 2022 में तेईस हज़ार करोड़ का घोटाला सामने आया है।

"काला धन लायेंगे, पन्द्रह लाख दिलायेंगे" का जुमला फेंकते-फेंकते 'जनता का पैसा खुलेआम लुटवायेंगे' का कारनामा मोदी सरकार ही कर सकती है। ये नया मामला एबीजी शिपयार्ड नामक कम्पनी से जुड़ा हुआ है, जो 28 बैंकों का 22,842 करोड़ रुपये का क़र्ज़ लेकर डकार गयी है।

1985 में बनी यह कम्पनी पानी के जहाज़ बनाने और उनकी मरम्मत का काम करती है। ये शिपयार्ड गुजरात के दाहेज और सूरत में स्थित है।1990 से लेकर 2009 तक इस कम्पनी ने ख़ूब तरक़्क़ी की! 2007 में इसकी तरक़्क़ी से ही प्रभावित होकर उस समय गुजरात के मुख्यमंत्री रहे नरेन्द्र दामोदर दास मोदी ने क़रीब एक लाख इक्कीस हज़ार वर्ग मीटर की सरकारी ज़मीन इस कम्पनी को आधे से भी कम क़ीमत पर दे दी थी! ये मामला उस समय गुजरात विधानसभा में उठा भी था लेकिन मामला चूँकि तरक़्क़ी का था, इसलिए कुछ भी नहीं हुआ। इस मामले में क्या तरक़्क़ी हुई, पता नहीं! बहरहाल 2008 में आयी विश्वव्यापी मन्दी ने जहाज़रानी उद्योग पर भी बहुत बुरा असर डाला। जहाज़ बनाने के कई ठेके रद्द हो गये। जो जहाज़ बने वो यार्ड में पड़े रह गये! और कम्पनी डूबने लगी। 2013 आते-आते कम्पनी ने बैंकों से ग्यारह हज़ार करोड़ का जो क़र्ज़ लिया था उसे चुकाने में असमर्थ हो गयी। इस क़र्ज़ को 2013 में ही बैंकों ने एनपीए (नॉन परफ़ॉर्मिंग एसेट यानि ऐसा क़र्ज़ जिसके मिलने की कोई उम्मीद नहीं) घोषित कर दिया था। लेकिन मामला यहीं नहीं रुका! 2014 में बैंकों ने इसे फिर से क़र्ज़ दिया। जो 2017 तक जाते-जाते फिर से एनपीए हो गया, यानी बैंक ने इसे न चुकाया जा सकने वाला क़र्ज़ घोषित कर दिया। इसके दो साल बाद 2019 में इस कम्पनी को फ़्रॉड घोषित किया गया। 2020 में इसके ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज करायी गयी। इसके ठीक दो साल बाद फ़रवरी 2022 में इसके ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज करायी गयी है। इस एफ़आईआर में यह बताया गया है कि इस कम्पनी को घाटे से उबारने के लिए बैंकों ने जो क़र्ज़ दिये, उस राशि को इस कम्पनी ने कहीं और सम्पत्ति ख़रीदने में इस्तेमाल किया। ग्रुप की अन्य कम्पनियों के क़र्ज़ और अन्य ख़र्चों के भुगतान में इस्तेमाल करती रही। यहाँ तक कि एक बहुत बड़ी राशि को टैक्स हैवन देशों में भी स्थानन्तरित किया गया है, यानी वे देश जो दुनियाभर के भ्रष्टाचारियों को अपने भ्रष्टाचार से लूटे गये धन को बचाने और छिपाने का मौक़ा देते हैं।

यानी जो कम्पनी डूबी उसके कर्मचारियों, मज़दूरों के भविष्य, उनके रोज़गार का, उनकी तनख़्वाह का पता नहीं लेकिन इस कम्पनी के मालिकों, डायरेक्टरों ने अपनी आलीशान ज़िन्दगी और ऐशोआराम का पूरा इन्तज़ाम कर लिया है। वो भी जनता के पैसों के दम पर।

अगर 2013 से 2022 तक के पूरे समय को देखा जाये तो पता चलता है कि इस पूरी नौ साल की अवधि में बैंकों ने ये जानते हुए भी कि एबीजी शिपयार्ड पहले के क़र्ज़ चुका पाने की स्थिति में ही नहीं है, और क़र्ज़ दिया! 2017 में दिवालिया घोषित होने के बावजूद न तो बैंक, न ही आरबीआई, न ही सीबीआई और न ही वित्त मंत्रालय ने एबीजी शिपयार्ड के मालिक ऋषि कमलेश अग्रवाल और कम्पनी के डायरेक्टरों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई की। इतने बड़े घोटाले के सामने आने के बाद भी कोई गिरफ़्तारी नहीं की गयी है। सरकार और उसकी तमाम एजेंसियाँ इसके मालिकों और डायरेक्टरों को विदेश भाग जाने या कहीं और सेटल हो जाने का पूरा मौक़ा दे रही हैं। और होना भी यही है। पूँजीवादी व्यवस्था में वित्तीय घोटाले का यह आम चलन है जिसमें छोटे पूँजीपति से लेकर बड़े पूँजीपति तक सभी शामिल हैं। चूँकि हमाम में सभी नंगे हैं इसलिए इसमें सज़ा किसी को नहीं होनी है। पूँजीवादी लूट, शोषण और भ्रष्टाचार का ये चक्र यही नहीं रुकता है। करोड़ों-अरबों के क़र्ज़ तले जब कोई कम्पनी डूब जाती है और उसे दिवालिया घोषित कर दिया जाता है तब उसकी नीलामी की जाती है। उस नीलामी में घूम-फिरा करके उस दिवालिया कम्पनी के भूतपूर्व मालिकों या रिश्तेदारों द्वारा ही किसी दूसरी कम्पनी की आड़ लेकर औने पौने दामों में उस कम्पनी को फिर से ख़रीद लिया जाता है।

अब रहा सवाल तेईस हज़ार करोड़ का क्या होगा? इसकी भरपाई कौन करेगा? तो इसका जवाब है – इसकी भरपाई भी जनता ही करेगी! वो कैसे? बैंक जो क़र्ज़ की राशि पूँजीपतियों को देते हैं वो पैसा बैंकों का अपना नहीं होता। आम जनता जो अपनी छोटी-छोटी बचत को बैंकों में जमा करती है वही पैसा बैंक उठाकर कम्पनियों और पूँजीपतियों को देते हैं और उनके मुनाफ़े का एक हिस्सा ब्याज़ के रूप में प्राप्त करते हैं। लेकिन जब कम्पनियाँ या पूँजीपति दिवालिया घोषित हो जाते हैं और बैंकों के क़र्ज़ चुका पाने की स्थिति में नहीं होते तो बैंकों को डूबने से बचाने के लिए पूँजीवादी सरकारें उन्हें बेल आउट पैकेज दिया करती हैं जो जनता के टैक्स से जुटाये गये राजकोष का ही एक हिस्सा होता है। और अपने इस राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिए सरकारें जनता के ऊपर ही और अतिरिक्त टैक्स का भार लगाने के साथ ही तमाम कल्याणकारी योजनाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य से लेकर तमाम बुनियादी सुविधाओं में कटौती करने लगती हैं। और इस प्रकार कुल मिलाकर पूँजीवादी लूट, ग़बन, भ्रष्टाचार का चक्र एक बार फिर से और बड़ी लूट, ग़बन, भ्रष्टाचार को अंजाम देने के लिए चलने लगता है।

चार राज्यों में विधानसभा चुनावों में भाजपा की जीत के कारण क्या हैं?

(पेज 5 से आगे)

मिसाल के तौर पर एक झूठ यह था कि योगी सरकार ने सपा के मुसलमानों और गुण्डों की दबंगई ख़त्म कर दी और अब प्रदेश में सुशासन स्थापित हो गया है, कोई गुण्डागर्दी या वसूली नहीं कर सकता है! **इससे बड़ा झूठ और कोई हो नहीं सकता। योगी के राज में नेताओं, विधायकों द्वारा अपराध, बलात्कार, वसूली और भ्रष्टाचार के मामलों ने सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये थे।** लेकिन अपने कोर वोट बैंक यानी उच्च व मध्य मध्यम वर्ग तथा ठेकेदारों व व्यापारियों के बीच पहले भाजपा ने इस बात को स्थापित किया और उसके बाद इस वाचाल तबक़े ने आम आबादी में इस झूठ को फैलाने का जमकर काम किया। ग़ौरतलब है कि इन वर्गों में अधिकांश सवर्ण जातियों से व वैश्य जातियों से आते हैं, यानी ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया आदि। लेकिन यहाँ भी कारण जातिगत नहीं बल्कि वर्गीय है। लेकिन चूँकि हमारे देशों में जाति समूहों और वर्ग समूहों का आंशिक अतिच्छादन मौजूद है और जातिवादी चेतना का असर है, इसलिए अक्सर लोग जातिगत समीकरण के तौर पर प्रकट हो रही घटना के पीछे मौजूद असली वर्गीय गतिकी को नहीं देख पाते हैं। **सच्चाई तो यह है कि मुसलमानों के बीच भी भाजपा को वोट प्रतिशत 6 प्रतिशत से बढ़कर 8 प्रतिशत पहुँच गया है!** यानी खाते-पीते मुसलमानों और विशेषकर शिया खाते-पीते मुसलमानों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी ने भाजपा को वोट दिया है! वजह यह है कि तमाम छोटे-बड़े पूँजीपतियों के लिए योगी सरकार ने लूट और मुनाफ़ाख़ोरी के तमाम रोड़े और बाधाएँ ख़त्म कर दी हैं और धन्धा करने को आसान बना दिया है। मज़दूरों के तमाम अधिकारों को विभिन्न प्रकार के काले क़ानूनों, जैसे कि एस्मा, आदि द्वारा छीन लिया गया है। इसलिए भी योगी सरकार समूचे पूँजीपति वर्ग की प्यारी बनी हुई है। इस वर्ग ने ही योगी सरकार के इस झूठ को स्थापित करने में सबसे बड़ा योगदान किया है, क्योंकि उसके लिए तो "सुशासन", "रामराज" आ गया है!

इसके अलावा, मीडिया के ज़रिए भी भाजपा ने इस झूठ को इतनी बार दुहराया कि ग़रीब आबादी के बीच भी इसका पर्याप्त असर देखा गया। एक जानी-मानी पत्रकार के उत्तर प्रदेश दौरों की डायरी से पता चला कि अधिकांश जगहों पर ग़रीब घरों की महिलाएँ बोल रही थीं कि महँगाई की वजह से जीना दूभर हो गया है लेकिन वोट योगी को जायेगा क्योंकि उसने महिलाओं को सुरक्षा प्रदान की है और अपराधियों को दुरुस्त कर दिया है। एक पुलिस एनकाउण्टर राज्य बनाकर अपराध को कम कर देने की यह मध्यवर्गीय धारणा मीडिया के ज़रिए आम मेहनतकश आबादी में भी घुसा दी गयी थी। यह झूठ एक पल में ढह जाता है यदि आप उत्तर प्रदेश में योगी सरकार के तहत महिलाओं के विरुद्ध बढ़े अपराधों पर नज़र डालते हैं। उल्टे यह पहली बार हो रहा है कि इतने विधायक-मंत्री सीधे ऐसे अपराधों में लिप्त पाये गये हैं और योगी सरकार ने बाक़ायदा उन्हें बचाने का काम किया है।

●

उपरोक्त विशिष्ट कारण थे, जिन्होंने सामान्य कारणों के साथ मिलकर उत्तर प्रदेश में भाजपा को फिर से सत्ता में पहुँचाने में योगदान किया है। अन्य सभी कारण, मसलन, ईवीएम धाँधली केवल सहायक भूमिका में थे और अपने आप में वे इस जीत को व्याख्यायित नहीं कर सकते।

अन्त से पहले एक और महत्वपूर्ण कारक पर चर्चा करना आवश्यक है।

उत्तर प्रदेश के कुलकों-धनी किसानों ने जमकर किया भाजपा का समर्थन

उत्तर प्रदेश चुनावों के नतीजे आने के बाद कम-से-कम हमारे देश के अक्ल के अन्धे कुलकवादी कम्युनिस्टों की आँखें खुल जानी चाहिए जो यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि धनी किसानों-कुलकों का ग़ुस्सा मोदी सरकार और योगी सरकार को उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में मज़ा चखायेगा। **आइए ठोस सच्चाई को देखते हैं। 2017 में भाजपा को धनी जाट कुलकों का 37 प्रतिशत वोट मिला था। याद रहे तब खेती क़ानून नहीं आये थे और उनको लेकर कोई ग़ुस्सा नहीं था। इस बार 54 प्रतिशत जाट वोट भाजपा को गये हैं।** और इस बार तो ऐसे कुलकवादियों के अनुसार खेती क़ानूनों और लखीमपुर खीरी की घटना को लेकर धनी किसानों-कुलकों में इतना ग़ुस्सा था कि भाजपा का सूपड़ा पश्चिमी उत्तर प्रदेश से साफ़ होने वाला था। लेकिन यह क्या? भाजपा का इन धनी किसानों-कुलकों के बीच वोट प्रतिशत और भी बढ़ गया! यहाँ तक कि लखीमपुर खीरी की चारों सीटें भाजपा ने जीत लीं! यह कैसे हो गया? यह सवाल इस समय कुलकवादी कम्युनिस्टों के चुनौटीभर दिमाग़ को अन्दर से खाये जा रहा है। ऐसे तमाम "यथार्थवादी कम्युनिस्टों" ने सदमे में आकर ऐसी चुप्पी साधी है कि उनके मुँह से बकार नहीं फूट रही है! यदि वे वास्तव में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट होते तो उन्हें इतना सदमा नहीं लगता और उनका मानसिक स्वास्थ्य अभी अच्छी हालत में होता।

सच यह है कि इन धनी किसानों-कुलकों को खेती क़ानून से जो नाराज़गी थी, वह उस प्यार पर हावी नहीं हो सकी जो कि शासक वर्ग का हिस्सा होने के कारण इन धनी किसानों-कुलकों को भाजपा से था। इन्हें लगता था कि खेती क़ानून तो तात्कालिक मसला है और हम चौधरियों (शासक वर्ग) का आपसी मसला है, वह तो हम सुलटा लेंगे। लेकिन मुसलमानों को "सबक़ सिखाने" और खेतिहर मज़दूरों को "औक़ात में रखने" के लिए तो भाजपा का शासन आना ज़रूरी है! यह भी ग़ौरतलब है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुसलमानों में भी एक खाता-पीता समुदाय अच्छी-ख़ासी संख्या में है। जिस प्रकार नात्सियों ने वायदा किया था कि धनी यहूदियों की सम्पत्ति छीनकर आर्य नस्ल के जर्मनों के हवाले कर दी जायेगी और उनका सफ़ाया होगा तो इनकी सारी सम्पत्ति पर जर्मनों का ही क़ब्ज़ा होगा, ऐसा ही नारा और नैरेटिव भीतर-भीतर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कुलकों-धनी किसानों के बीच भी स्थापित किया गया है।

कुलकों और धनी किसानों के बारे में कई मूर्ख कह रहे हैं कि भाजपा को वोट देकर वे मूर्ख बन गये हैं। सच्चाई यह है कि कुलकों और धनी किसानों ने भाजपा को वोट देकर तीक्ष्ण वर्ग चेतना का परिचय दिया है। वे इस बात को पहचानते हैं कि निश्चित तौर पर खेती क़ानूनों पर उनका बड़े पूँजीपति वर्ग से आन्तरिक अन्तर्विरोध हो सकता है और छोटे-मँझोले पूँजीपति वर्ग और बड़े पूँजीपति वर्ग के बीच यह अन्तर्विरोध होता ही है। छोटा-मँझोला पूँजीपति वर्ग बड़े पूँजीपति वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा के कारण उजड़ने से बचने के लिए राज्य का संरक्षण चाहता है और उसकी पूरी लड़ाई ही एमएसपी द्वारा इस संरक्षण को बचाने के लिए है। लेकिन वह यह भी समझता है कि व्यापक मेहनतकश जनता के बरक्स पूँजीपति वर्ग एकजुट है। यही वजह है कि कई साक्षात्कारों और सर्वेक्षणों के दौरान कुलकों और धनी किसानों ने साफ़ बोला कि खेती क़ानूनों पर जो असहमति है वह तो शासक वर्ग का आन्तरिक मसला है। लेकिन असली दूरगामी दुश्मन मेहनतकश जनता और मुसलमान हैं। इसलिए वास्तव में मूर्ख ये धनी किसान और कुलक नहीं हैं, बल्कि स्वयं हमारे कुलकवादी कम्युनिस्ट हैं, जो आकाशकुसुम की अभिलाषा में हाथ फैलाये बैठे थे और हाथ में गिरी कौवे की टट्टी!

(पेज 16 पर जारी)

दिल्ली की 22,000 आँगनवाड़ी कर्मियों की ऐतिहासिक हड़ताल

घबरायी केजरी-मोदी सरकारों द्वारा काला क़ानून 'हेस्मा' थोपने से यह लड़ाई रुकेगी नहीं!

(पेज 1 से आगे)

की है और उनके चरित्र को हज़ारों आँगनवाड़ीकर्मियों के सामने बेनक़ाब किया है। हेस्मा लगाने के लिए शासक वर्ग उन्हीं हड़तालों के विरुद्ध मजबूर होता है जिनकी फ़ौलादी एकजुटता को वह तोड़ नहीं पाता। बिरले ही हड़तालों पर एस्मा/हेस्मा लगाया जाता है और आँगनवाड़ीकर्मियों की हड़ताल पर हेस्मा लगाकर सरकार ने संघर्ष का एक नया रास्ता खोल दिया है। यह एक्ट आँगनवाड़ीकर्मियों पर लगाया जाना अपने आप में कितना अलोकतांत्रिक और ग़ैर-क़ानूनी है, इसपर हम आगे बात करेंगे।

यह हड़ताल बीते 31 जनवरी से जारी थी। 9 मार्च को हेस्मा लगाये जाने के मद्देनज़र हड़ताल को फ़िलहाल अदालत में मसले पर फ़ैसला आने तक स्थगित कर दिया गया है और संघर्ष को अन्य रूपों में जारी रखने का निर्णय लिया गया है जिसमें कि प्रमुख है दिल्ली के नगर निगम चुनावों में आम आदमी पार्टी और भारतीय जनता पार्टी का बहिष्कार। आँगनवाड़ीकर्मियों की यह हड़ताल ऐतिहासिक रही, जिसे वीरतापूर्वक लड़ा गया।

आइए एक बार संक्षेप में निगाह डालते हैं हड़ताल के घटनाक्रम पर।

7 सितम्बर 2021 के चेतावनी प्रदर्शन के बाद दिल्ली सरकार के महिला एवं बाल विकास मंत्री राजेन्द्र पाल गौतम ने एक हफ़्ते के भीतर हमारी माँगों पर ठोस कार्रवाई का आश्वासन दिया था। लम्बे इन्तज़ार के बाद भी कोई जवाब न मिलने पर 6 जनवरी को एक बार फिर आँगनवाड़ीकर्मियों ने एकदिवसीय हड़ताल कर काम ठप्प किया और मंत्री महोदय की याददिहानी के लिए अपना माँगपत्रक सौंपा। मगर पंजाब चुनाव प्रचार में व्यस्त केजरीवाल सरकार को दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों की समस्या नहीं दिखी। अन्त में 31 जनवरी से दिल्ली के सिविल लाइन्स, विकास भवन पर हड़ताल की शुरुआत हुई। 11 फ़रवरी व 22 फ़रवरी को दिल्ली की सड़कों पर पहले पन्द्रह और फिर अट्ठारह हज़ार की संख्या में आँगनवाड़ीकर्मियों की रैली निकाली गयी जिसमें दिल्ली की जनता ने भी भारी समर्थन दिया। इस दौरान दिल्ली की सड़कों पर जो लाल सैलाब उमड़ा यह अपने आप में अभूतपूर्व था। इसके साथ ही गोवा व पंजाब में केजरीवाल का बहिष्कार करने के लिए भी अभियान चलाया गया।

25 फ़रवरी को हड़ताल एक नये चरण में प्रवेश हुई, जब कश्मीरी गेट स्थित महिला एवं बाल विकास विभाग (डब्ल्यू.सी.डी.) के दफ़्तर पर दिन-रात धरना शुरू हो गया और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया गया। डब्लू.सी.डी. के डायरेक्टर नवलेन्द्र सिंह ने हड़ताल तोड़ने के लिए आँगनवाड़ीकर्मियों को निलम्बन पत्र जारी किया था, इसके विरोध में जब डब्लू.सी.डी. का घेराव करने आँगनवाड़ीकर्मी जा रही थीं, तब डरकर नवलेन्द्र ख़ुद धरना स्थल पर बात करने पहुँचे और आश्वासन दिया था कि कुछ ही देर में यह निलम्बन वापस ले लिये जायेंगे। पर कोई सुनवाई न होते देख अन्त में डब्लू.सी.डी. का घेराव किया गया और वहाँ पर एक और प्रदर्शन की शुरुआत की गयी, जो आख़िरी दिन तक जारी रहा। इस दौरान डब्लू.सी.डी. का सारा काम काज ठप्प कर दिया गया और सभी कर्मचारियों को विनम्रतापूर्वक काम करने से मना कर दिया गया। 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर राजघाट से दिल्ली सचिवालय की ओर 'स्त्री अधिकार रैली' निकाली गयी और तब भी केजरीवाल के मंत्री आँगनवाड़ीकर्मियों से मिलने को तैयार नहीं हुए। यह रैली दुनिया में इस वर्ष अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस पर हुई सबसे बड़ी रैली थी, जिसमें क़रीब पन्द्रह हज़ार औरतों ने शिरकत की।

इसके साथ ही हड़ताल के दौरान लगातार दिल्ली के अलग-अलग इलाक़ों में 'नाक में दम करो अभियान' चलाया जा रहा था जो कि अभी भी जारी है, जिसके तहत आम आदमी पार्टी के नेताओं का बहिष्कार किया जा रहा है। इसमें मनीष सिसोदिया से लेकर दिलीप पाण्डे जैसे आप के नेताओं के कार्यक्रम में जाकर धावा बोला गया और उन्हें आँगनवाड़ीकर्मियों की माँगों से अवगत कराया गया। पर इसके बावजूद आप के मंत्री यूनियन से वार्ता के लिए तैयार नहीं हुए और उल्टे आँगनवाड़ीकर्मियों पर पुलिस द्वारा दमन कराया गया। पुलिस और आम आदमी पार्टी की मिलीभगत का ख़ुलासा इससे होता है कि इस दौरान पुलिस ने भी आन्दोलन को तोड़ने और नुक़सान पहुँचाने की पूरी कोशिश की। 11 फ़रवरी की रैली के बाद धोखे से हड़ताल के सामान को ज़ब्त कर लिया और कुछ साथियों को डिटेन कर लिया गया, पर जनबल के साथ तुरन्त सिविल लाइन थाने में धरना शुरू हो गया और मजबूरन उन्हें साथियों को रिहा करना पड़ा और कोर्ट में भी कई चक्कर लगाने के बाद ज़ब्त किया हुआ समान छुड़ाया गया। इसके अलावा मनीष सिसोदिया के ख़िलाफ़ जब विरोध प्रदर्शन किया जा रहा था तब भी उसकी रक्षा के लिए पुलिस ने आँगनवाड़ीकर्मियों को पकड़ लिया और उनके साथ बदसलूकी की। पर अन्त में आँगनवाड़ीकर्मियों की एकजुटता के आगे पुलिस को भी झुकना पड़ा। इस सब के बाद भी जब केजरीवाल यूनियन से वार्ता के लिए तैयार नहीं हुआ तो उसके आवास के बाहर ही दिन और रात के धरने की शुरुआत की गयी जो कि आख़िरी तीन दिनों तक हेस्मा थोपे जाने के पहले तक जारी रही। ज्ञात हो कि 2017 की आँगनवाड़ी की हड़ताल के बाद केजरीवाल के आवास के पास धरना न करने के निर्देश दिये गये थे। पर ये निर्देश भी आँगनवाड़ीकर्मियों की एकजुटता के आगे धरे के धरे रह गये। कला मोर्चे पर भी प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट लीग के साथियों द्वारा इस बीच हड़ताल स्थल पर नयी-नयी कलाकृतियों का निर्माण किया जा रहा था।

38 दिनों तक चली इस हड़ताल ने दिल्ली की आम आदमी पार्टी और केन्द्र की भाजपा को ही चुनौती नहीं दी, बल्कि समूची पूँजीवादी व्यवस्था को भी बेनक़ाब किया। सरकार का असली कामकाज तो नौकरशाही सँभालती है जिसकी जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं होती। इस व्यवस्था के ये स्तम्भ किस प्रकार संघर्ष करने वाली जनता के विरोधी होते हैं, यह इस हड़ताल में खुलकर दिखा। हड़ताल को तोड़ने के लिए महिला एवं बाल विभाग प्रशासन ने सारे हथकण्डे अपना लिये, इसके बावजूद भी वे हड़ताल तोड़ने में असफल रहे। जहाँ एक तरफ़ विभाग के मंत्री राजेन्द्र पाल गौतम ने पहले हड़ताल को मानने तक से इन्कार कर दिया, वहीं नेतृत्व कर रही यूनियन और उसके नेताओं के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार की मुहिम चलायी, पर हड़ताली कर्मियों ने हड़ताल जारी रखी और अन्त में विभाग और मंत्री को भी मानना पड़ा कि हड़ताल जारी है और दिल्ली की आँगनवाड़ियाँ ठप्प हैं। डब्लू.सी.डी. के डायरेक्टर नवलेन्द्र सिंह ने तो एक क़दम आगे बढ़ते हुए कर्मियों को 'सरफ़रोश' करने की धमकी दे डाली और उन्हें अपशब्द कहे। ज्ञात हो कि ये वही नवलेन्द्र सिंह हैं जिन्हें 2016 में 5 करोड़ के घूस के आरोप में निलम्बित किया गया था। सिर्फ़ इतना ही नहीं हड़ताल को जल्द से जल्द तोड़ने के लिए 27 कर्मियों को निलम्बन का नोटिस जारी कर दिया और हज़ारों की संख्या में कर्मियों को कारण बताओ नोटिस भेजा गया। इन सब के ख़िलाफ़ यूनियन और आँगनवाड़ीकर्मियों ने संघर्ष किया और अपनी माँगों को लेकर डटे रहे। ये साफ़ दिखाता है कि कार्यपालिका किस प्रकार सिर्फ़ अपने ऊपर बैठे मंत्रियों के ही निर्देश लागू करने और पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा के लिए ही बनी है। उसका जनता से कोई लेना-देना नहीं है।

अब बात करते हैं सरकारों के साथ मिलकर नक़ली लाल रंग लगाकर मज़दूरों-मेहनतकशों को भरमाने वाले, उनके संघर्षों के साथ ग़द्दारी करने वाले संशोधनवादियों की, जिन्होंने एक बार फिर इस हड़ताल में भी साबित किया कि ये व्यवस्था की सेफ़्टी वॉल्व के तौर पर काम करते हैं। केजरीवाल सरकार और महिला एवं बाल विकास विभाग की हज़ारों चालों और साज़िशों के बावजूद दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मी अपनी हड़ताल में बहादुरी से डटी रहीं। लेकिन इस हड़ताल को कमज़ोर करने के इरादे से संशोधनवादी सीपीएम की सीटू की दलाल यूनियन ने केजरीवाल सरकार के साथ अब सौदेबाज़ी करने का एक भी मौक़ा हाथ से नहीं जाने दिया। पूरी हड़ताल में सौदेबाज़ी करने के लिए सीटू ने भी 'आप' के मंत्रियों की तरह यूनियन के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार किया और बारह लोगों की सदस्यता वाली अपनी फ़र्ज़ी यूनियन को आँगनवाड़ीकर्मियों का प्रतिनिधि बताने लगे। ये हड़ताल तोड़ने के लिए इस हद तक आमादा थे कि जब एल.जी. ने हड़ताल पर हेस्मा लगाया तो ये ख़ुशी से खिल उठे। यह वही दलाल यूनियन है जिसे 2015 और

(पेज 8 पर जारी)

दिल्ली की 22,000 आँगनवाड़ी कर्मियों की ऐतिहासिक हड़ताल

आँगनवाड़ीकर्मियों की तीन विशाल रैलियों और भूख हड़ताल के कुछ दृश्य

(पेज 7 से आगे)

2017 में अपनी इसी कुत्सित ग़द्दारी के चलते आँगनवाड़ीकर्मियों ने हड़ताल से पीट-पीटकर दौड़ा लिया था और तब से ही यह यूनियन अपनी इसी क़िस्म की घटिया हरकतों के लिए आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं के बीच कुख्यात है। दूसरी तरफ़ इनकी मातृ पार्टी सी.पी.एम. ने तो चुनावों में आम आदमी पार्टी का समर्थन भी किया है, तो किस मुँह से ये इनके ख़िलाफ़ बोलेंगे। असल में सीटू अपनी दलाली और आम आदमी पार्टी के साथ मिलकर की गयी साज़िशों के बावजूद भी हड़ताल को नहीं तोड़ पायी और ख़ुद ही लुट-पिटकर बैठ गयी। इनकी दलालियों पर एक पूरा पुराण लिखा जा सकता है। हरियाणा में सुपरवाइज़र्स को बचाने के लिए इन्होंने आँगनवाड़ी वर्कर्स और हेल्पर्स को क़ुर्बान कर दिया। इस आन्दोलन को नाकाम करने के लिए भी इन्होंने दलाली और ग़द्दारी के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये थे और इसलिए हज़ारों औरतों द्वारा दर्जनों बार खदेड़े गये। साथ ही इनका इतिहास भी यही बताता है कि ये मज़दूर आन्दोलन के विभीषण और मीर जाफ़र हैं।

इस हड़ताल से भाजपा की केन्द्र सरकार भी भयाक्रान्त थी और आम आदमी पार्टी की केजरीवाल सरकार की तो ऐसी छीछालेदर जनता के बीच कभी हुई ही नहीं थी। अपनी लाख कोशिशों के बावजूद केन्द्र की भाजपा और राज्य की आम आदमी पार्टी हड़ताल तोड़ने में नाकामयाब रहे। एक तरफ़ आम आदमी पार्टी पंजाब में जाकर आँगनवाड़ीकर्मियों का वेतन दोगुना करने की बात कर रही थी, वहीं दूसरी तरफ़ केजरीवाल ने दिल्ली की आँगनवाड़ी हड़ताल को बिल्कुल अनदेखा कर दिया। इनके मंत्री राजेन्द्र पाल गौतम मानदेयर में 22 प्रतिशत की वृद्धि कर खुलेआम झूठ बोलते हैं कि दिल्ली की आँगनवाड़ी का मानदेय अब देश में सबसे अधिक है और कहा कि आँगनवाड़ीकर्मी सिर्फ़ 3-5 घण्टे ही काम करती हैं। यह बात सच्चाई से कोसों दूर है। सच्चाई यह है कि तेलंगाना राज्य की सरकार द्वारा दिया जा रहा मानदेय दिल्ली में मानदेय बढ़ोत्तरी की राशि से भी कहीं ज़्यादा है। तेलंगाना में वर्ष 2021 से ही वर्कर्स को 13,650 रुपये और हेल्पर्स को 7,800 रुपये मानदेय दिया जाता है। यही नहीं तमिलनाडु सरकार वर्कर्स को 12,200 रुपये और हेल्पर्स को 8,650 रुपये मानदेय देती है। इसमें भी हेल्पर्स का मानदेय दिल्ली के तथाकथित बढ़े हुए मानदेय से कहीं ज़्यादा है। दिल्ली में बढ़ाया गया मानदेय वैसे भी देश में सबसे ज़्यादा होना चाहिए (जो कि वह नहीं है), क्योंकि दिल्ली में जीवनयापन का ख़र्च तेलंगाना या तमिलनाडु से कहीं ज़्यादा है। केजरीवाल सरकार यह दावा कर रही है कि उसने 2017 में आँगनवाड़ीकर्मियों का मानदेय बढ़ाया था! लेकिन ये झूठे-लबार यह नहीं बताते कि 2017 में आँगनवाड़ीकर्मियों ने 58 दिन लम्बी हड़ताल की थी और इनकी सरकार को घुटनों के बल लाकर वेतन बढ़ोत्तरी को मजबूर किया था। केजरीवाल सरकार दावा करती है कि दिल्ली की आँगनवाड़ी जितना पा रही हैं उतना कोई भी नहीं पा रहा। जबकि सच्चाई यह है कि तमिलनाडु और पाण्डिचेरी की सरकारें आँगनवाड़ीकर्मियों को पेंशन, ईएसआई-पीएफ़, दुर्घटना बीमा, सवैतनिक मातृत्व अवकाश जैसी सुविधाएँ दे रही हैं जो दिल्ली में नहीं मिल रही। कोविड महामारी के समय जब दिल्ली की जनता सड़कों पर दम तोड़ रही थी उस समय अपने विधायकों का वेतन 54,000 से 90,000 रुपये कर इसमें 66 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी करने वाली केजरीवाल सरकार आँगनवाड़ी कर्मियों को 1,000-1,500 का झुनझुना थमा बरगलाना चाहती है। इसी केजरीवाल सरकार ने सिर्फ़ अपने प्रचार पर पिछले 2 सालों में 830 करोड़ रुपये से ज़्यादा ख़र्च किये हैं।

दूसरी तरफ़ भाजपा सरकार भी केजरीवाल का पूरा समर्थन करते हुए वही राग अलाप रही है। 2018 में मोदी ने 1500 वर्कर्स और 750 हेल्पर्स को देने की घोषणा की थी वो आज तक उन्हें नहीं मिले हैं। इसके साथ ही कर्मचारी का दर्जा देने की माँग को लेकर भी भाजपा कान में तेल डालकर बैठी है।

आँगनवाड़ीकर्मियों की इस अद्वितीय और ऐतिहासिक हड़ताल पर हरियाणा एसेंशियल सर्विसेज़ मेण्टेनेंस एक्ट के ज़रिए छह महीने की रोक लगा दी है। ग़ौरतलब है कि क़ायदे से यह क़ानून केवल सरकारी कर्मचारियों पर ही लगाया जा सकता है क्योंकि आँगनवाड़ीकर्मियों को तो सरकार कर्मचारी तक नहीं मानती तो उनकी सेवाएँ आवश्यक सेवाएँ किस प्रकार हैं, और यदि वे आवश्यक सेवाएँ हैं तो फिर उन्हें कर्मचारी का दर्जा क्यों नहीं मिलता। फिर दिल्ली के उपराज्यपाल महोदय इस पर हेस्मा किस प्रकार लगा सकते हैं? ज़ाहिर है, यह क़दम पूरी तरह से असंवैधानिक और ग़ैर-क़ानूनी है। लेकिन आम आदमी पार्टी और भारतीय जनता पार्टी दोनों इस क़दर भयाक्रान्त हैं कि इनका दिमाग़ काम करना बन्द कर चुका है। ये किसी भी तरह से जारी हड़ताल को रोकना चाहते हैं। इन्होंने तर्क दिया है कि चूँकि दिल्ली में बच्चों व औरतों की देखरेख के कार्य को हानि पहुँच रही है, इसलिए आँगनवाड़ी कर्मियों की हड़ताल पर एस्मा लगाया जा रहा है। लेकिन ये भूल गये कि ये 22,000 आँगनवाड़ीकर्मी ख़ुद भी ग़रीब और मध्यवर्ग से आने वाली औरतें ही हैं, जिन्हें ख़ुद भी घर चलाना है। उन्हें छह साढ़े छह हज़ार (हेल्पर के लिए) और बारह साढ़े बारह हज़ार (वर्कर के लिए) की ख़ैरात देकर दिनों-रात खटाया जाता है। यही इस पूँजीवादी व्यवस्था की सच्चाई है। इसकी नींव ही मेहनतकश लोगों की श्रमशक्ति की लूट पर आधारित है। यह स्कीम भी इसलिए चलायी गयी थी ताकि मज़दूरों-मेहनतकशों की श्रमशक्ति का मूल्य घट सके और उसकी पुनरुत्पादन की लागत को कम किया जा सके और वह भी इन्हीं मज़दूरों-मेहनतकशों के घरों की औरतों के श्रम का दोहन करके। जब इन औरतों ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी तो भारतीय जनता पार्टी और आम आदमी पार्टी दोनों ने ही अपने झगड़े भुलाकर साँठगाँठ कर ली और उपराज्यपाल के ज़रिए हड़ताल पर छह महीने के लिए एस्मा लगा दिया। वास्तव में, इनके द्वारा आपसी मिलीभगत से एस्मा लगाया जाना इनके डर को दिखलाता है और यह आँगनवाड़ीकर्मियों के संघर्ष की एक बड़ी राजनीतिक जीत है।

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन इस अन्यायपूर्ण क़दम का पहला जवाब इसे अदालत में चुनौती देकर देगी। यदि देश की न्यायपालिका वास्तव में स्वतंत्र और निष्पक्ष है, तो वह इस ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक आदेश को रद्द करेगी और हड़ताल के बुनियादी अधिकार को सुनिश्चित करेगी। यदि वह सरकार और चुनावी पार्टियों की जेब में नहीं बैठी है, तो वह या तो आँगनवाड़ीकर्मियों को नियमितीकरण कर सरकारी कर्मचारी का दर्जा देने का आदेश सरकार को देगी या फिर एस्मा को रद्द करेगी क्योंकि एस्मा सरकारी कर्मचारियों पर ही लगाया जा सकता है। अगर न्यायपालिका ऐसा नहीं करती है, तो यह सिद्ध हो जायेगा कि हमारे देश की न्यायपालिका भी निष्पक्ष और स्वतंत्र नहीं है, बल्कि मुनाफ़ाख़ोरों, अमीरों और सत्ताधारियों की जेब में बैठी है। या तो न्यायपालिका सरकार को आदेश दे कि कर्मचारी का हक़ देकर आँगनवाड़ीकर्मियों का नियमितीकरण करे और वाजिब पे स्केल के आधार पर वेतन दे, या फिर हेस्मा को रद्द करे। केवल तब तक के लिए आँगनवाड़ीकर्मी अपने संघर्ष को नये रूपों में जारी रखेंगी और हड़ताल को स्थगित करेंगी। यदि वहाँ भी न्याय नहीं मिलता, तो मानना पड़ेगा कि हमारे देश में अब अन्याय ही क़ानून बन गया है और उसके ख़िलाफ़ बग़ावत करते हुए एस्मा को तोड़कर फिर से हड़ताल की जायेगी।

कर्मचारी का दर्जा दिये बिना मूँगफलियों के मोल ग़ुलामों की तरह बेगार नहीं कराया जा सकता। वास्तव में, ऐसा कराने वाली व्यवस्था और सरकार ही अन्यायपूर्ण है और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना हर इन्सान का जन्मसिद्ध अधिकार है, चाहे उस अन्याय को सरकार और व्यवस्था किसी क़ानून का हवाला देकर ही क्यों न करे। अंग्रेज़ों ने अन्यायपूर्ण नमक क़ानून बनाया था तो इस देश के लोगों ने उस क़ानून को तोड़कर सही किया था या ग़लत? जब ट्रेड डिस्प्यूट बिल के ख़िलाफ़ भगतसिंह और उनके साथियों ने संघर्ष का बिगुल फूँका था तो उन्होंने सही किया था या ग़लत? साफ़ है – जब अन्याय क़ानून बन जाये, तो विद्रोह हमारा अधिकार ही नहीं बल्कि कर्तव्य भी बन जाता है।

इस मुक़दमे में भारत की न्यायपालिका के चरित्र को उजागर करने तक भाजपा और आप का दिल्ली नगर निगम चुनावों में पूर्ण बहिष्कार और उनकी वोटबन्दी का आन्दोलन दिल्ली में चलाया जायेगा और पूरी दिल्ली की जनता को इन दोनों झूठी, बेईमान और भ्रष्टाचारी पार्टियों की असलियत से आँगनवाड़ीकर्मी अवगत करायेंगी। यह आन्दोलन अभी से शुरू है और सारी आँगनवाड़ी बहनों ने इसके लिए कमर कस ली है क्योंकि इन दोनों ही पार्टियों की असलियत सबके सामने नंगी हो चुकी है।

इसके साथ ही इस हड़ताल से यह भी स्पष्ट हो गया कि जब मेहनतकश वर्ग संगठित हो तो तमाम पूँजीवादी पार्टियाँ अपने आपसी मतभेद भुलाकर राज्यसत्ता के तौर पर एकजुट होकर आन्दोलन का खुले तौर पर दमन करती है। इसके साथ ही 38 दिन चले इस आन्दोलन ने भी साबित कर दिया कि अगर मेहनतकशों की एकजुटता को सही दिशा में क्रान्तिकारी नेतृत्व के साथ बढ़ाया जाये तो दमनकारी से दमनकारी राज्यसत्ता को भी झुकाया जा सकता है।

– बिगुल संवाददाता

आँगनवाड़ी वर्कर्स और हेल्पर्स तथा अन्य स्कीम वर्कर्स के शोषण से पूँजीपति वर्ग को और समूची पूँजीवादी व्यवस्था को कैसे फ़ायदा होता है?

देखरेख करने वाले काम (केयर वर्क) का राजनीतिक अर्थशास्त्र

– अभिनव

आज देशभर में कई स्थानों में आँगनवाड़ीकर्मियों व अन्य स्कीम वर्करों जैसे कि आशाकर्मियों के संघर्ष चल रहे हैं। पिछले दो दशकों में मज़दूर-मेहनतकश आबादी के इस हिस्से के संघर्ष काफ़ी जुझारू रहे हैं। इनमें भी दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का पिछले 7 वर्षों से जारी आन्दोलन विशेष स्थान रखता है। इस संघर्ष के दौरान ही इन आँगनवाड़ीकर्मियों ने सीटू जैसी दलाल और ग़द्दार यूनियन का अपने बीच से पूर्ण रूप से सफ़ाया कर दिया और अपनी स्वतंत्र क्रान्तिकारी यूनियन 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' की स्थापना की। यह यूनियन 2015 और 2017 में दो सफल हड़तालें लड़ चुकी है और उनकी 2022 की तीसरी हड़ताल अभी भी जारी है, जिसपर केजरीवाल सरकार और मोदी सरकार द्वारा डरकर हेस्मा नामक काला क़ानून थोपने और उसे छह माह के लिए प्रतिबन्धित करने का काम किया गया है। इसके बाद यूनियन ने न्यायपालिका की "स्वतंत्रता और निष्पक्षता" को परखने के लिए हेस्मा लगाये जाने के फ़ैसले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी है और केवल तब तक के लिए हड़ताल को स्थगित किया है। यूनियन ने स्पष्ट किया है कि यदि न्यायपालिका से न्याय नहीं मिलता तो हेस्मा तोड़ते हुए हड़ताल की फिर से शुरुआत की जायेगी, क्योंकि जब अन्याय ही क़ानून बन जाये तो बग़ावत अधिकार और कर्तव्य बन जाता है। इस तीसरी हड़ताल ने भी आंशिक जीत पहले ही हासिल कर ली है, क्योंकि केजरीवाल सरकार को मजबूर होकर दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का मानदेय 22 से 24 प्रतिशत तक बढ़ाना पड़ा है। लेकिन चूँकि केजरीवाल सरकार ने यूनियन से वार्ता नहीं की और साथ ही मानदेय में नाकाफ़ी बढ़ोत्तरी की है और अन्य माँगें नहीं मानी हैं, इसलिए संघर्ष अभी भी जारी है।

एक ऐसे ऐतिहासिक संघर्ष के समय, जिसमें कि तीन ज़बर्दस्त रैलियाँ निकाली गयीं, हड़ताल स्थल पर आर्ट गैलरियाँ बनायी गयीं, बच्चों के शिशुघर चलाये गये और आँगनवाड़ीकर्मी औरतों की नाटक टोलियाँ बनायी गयीं और आम आदमी पार्टी का पूरे शहर में बहिष्कार किया गया, इस बात पर चर्चा करना बेहद मौजूँ होगा कि **आँगनवाड़ीकर्मियों के श्रम का पूँजीपति वर्ग के लिए क्या महत्व है, वह उन्हें कैसे लूटता है, उनका किस प्रकार फ़ायदा उठाता है। आँगनवाड़ीकर्मी कोई वस्तु या सेवा नहीं पैदा करतीं और इसलिए कोई मूल्य नहीं पैदा करतीं। वे एक उपयोगी सेवा देती हैं, लेकिन उस सेवा को बेचा-ख़रीदा नहीं जाता बल्कि एक स्कीम के ज़रिए ग़रीब मेहनतकश आबादी के बच्चों व स्त्रियों में निशुल्क वितरित किया जाता है। चूँकि वे कोई मूल्य नहीं पैदा करतीं, इसलिए वे सीधे पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़ा भी नहीं पैदा करतीं। लेकिन इसके बावजूद वे पूँजीपति वर्ग को अपने मुनाफ़े की दर को बढ़ाने में मदद करती हैं। कैसे? आइए इसे समझते हैं क्योंकि आज स्वयं आँगनवाड़ीकर्मियों के लिए अपने शोषण की सच्चाई को समझना बहुत ज़रूरी है ताकि वे इससे अपने संघर्ष के लिए ठोस नतीजे निकाल सकें।**

●

पूँजीवादी समाज की बुनियाद में व्यापक मेहनतकश आबादी की श्रमशक्ति का शोषण है। मज़दूरों-मेहनतकशों की श्रमशक्ति के शोषण से ही पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा पैदा होता है। मशीनें कोई नया माल स्वयं नहीं बना सकतीं और इसीलिए वे स्वयं कोई नया मूल्य नहीं पैदा करतीं। माल में मशीनों का मूल्य टुकड़ों-टुकड़ों में बिना बढ़े रूपान्तरित हो जाता है और मशीनें स्वयं कोई नया मूल्य नहीं पैदा करतीं। मानवीय श्रम ही नया मूल्य पैदा करता है। किसी भी माल के मूल्य में उसमें लगने वाले कच्चे माल मूल्य और मशीन व इमारत आदि का घिसाई मूल्य शामिल होता है जो कि ज्यों का त्यों माल की क़ीमत में स्थानान्तरित हो जाता है। इसे हम 'पुराना मूल्य' या 'पहले उत्पादित हो चुका मूल्य' कह सकते हैं क्योंकि उसका उत्पादन पहले ही हो चुका है। लेकिन साथ ही माल की क़ीमत में वह नया मूल्य भी शामिल होता है, जो कि मानवीय श्रम ने पैदा किया होता है। स्वयं कच्चे माल, मशीनों, इमारतों आदि का मूल्य भी मानवीय श्रम से ही पैदा होता है। मूल्य अपने आप में और कुछ नहीं बल्कि माल का रूप ग्रहण कर चुका इन्सानी श्रम है।

मज़दूरों को पूँजीपति उनके कुल श्रम का मोल नहीं देता है। अगर ऐसा होता तो पूँजीपति का मुनाफ़ा ही समाप्त हो जाता। वह मज़दूर की श्रमशक्ति को ख़रीदता है। श्रमशक्ति का अर्थ होता है एक मज़दूर द्वारा एक कार्यदिवस में काम करने की क्षमता। यानी मज़दूर और उसके परिवार के लिए ज़रूरी न्यूनतम भोजन, कपड़े, किराया, ईंधन का ख़र्च, शिक्षा व स्वास्थ्य का ख़र्च। उसके परिवार का गुज़ारा-ख़र्च भी इसमें शामिल होता है क्योंकि मज़दूरों की नस्ल को आगे जारी रखने का काम आम तौर पर मज़दूर वर्ग ही करता है, न कि धन्नासेठों की औलादें। मज़दूर को मज़दूरी के रूप में अपने और अपने परिवार के गुज़ारे बराबर वेतन मिलता है। इसी के ज़रिए मज़दूर और उसका परिवार जीवित रह सकता है और इसी के ज़रिए वह अगले दिन फिर से पूँजीपति वर्ग के लिए काम कर सकता है। दूसरे शब्दों में, इसी के ज़रिए उसकी श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन होता है।

मज़दूर की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन में होने वाले ख़र्च के बराबर ही उसकी श्रमशक्ति का मूल्य होता है। मज़दूर वर्ग अपने संघर्ष के ज़रिए अपनी मज़दूरी को कभी श्रमशक्ति के मूल्य से कुछ ऊपर उठा सकता है, या फिर उसके संघर्षों के कमज़ोर होने की सूरत में मज़दूरी श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक न्यूनतम स्तर तक गिर सकती है या कई बार उससे नीचे भी गिर सकती है। लेकिन आम तौर पर लम्बी दूरी में मज़दूरी श्रमशक्ति के मूल्य के ऊपर-नीचे ही मण्डराती रहती है।

यह श्रमशक्ति का मूल्य भी एक सामाजिक व ऐतिहासिक श्रेणी है। भारत में मज़दूर वर्ग की श्रमशक्ति के मूल्य में स्तरीय भोजन, अच्छा मकान, अच्छी स्वास्थ्य व शिक्षा नहीं शामिल है, जबकि कई उन्नत पूँजीवादी देशों में अधिकांश मज़दूर इसके बिना काम करने को तैयार ही नहीं होंगे। इस अन्तर का कारण है इन देशों में राजनीतिक चेतना के स्तर और इन देशों के पूँजीपति वर्ग की आर्थिक ताक़त के बीच का अन्तर। लेकिन मूल बात यह है कि श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन

(पेज 10 पर जारी)

हड़ताल के दौरान धरनास्थल पर होने वाली विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों, वक्तव्यों और प्रेस कॉन्फ्रेंस के कुछ दृश्य

देखरेख करने वाले काम (केयर वर्क) का राजनीतिक अर्थशास्त्र

(पेज 9 से आगे)

होना और सस्ते में उसका पुनरुत्पादन होना पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता होती है। मज़दूर काम करने की स्थिति में ही नहीं होगा तो पूँजीपति स्वयं तो कारख़ाने में काम करेगा नहीं! उसे मूल्य और बेशी मूल्य (जो कि मुनाफ़े का आधार होता है) के उत्पादन के लिए मज़दूर की ज़रूरत है।

लेकिन पूँजीपति वर्ग चाहता है कि मज़दूरों की श्रमशक्ति सस्ते से सस्ते में पुनरुत्पादित हो जाये। ऐसा पूँजीपति वर्ग कई तरीक़े से करता है।

पहला, लम्बी दूरी में उन उद्योगों की उत्पादकता को बढ़ाकर जो कि मज़दूरों के इस्तेमाल में आने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, दूसरे शब्दों में, मज़दूरी-उत्पादों को सस्ता करके क्योंकि उत्पादकता बढ़ने के साथ एक दीर्घकालिक प्रवृत्ति के तौर पर माल की क़ीमत घटती है।

दूसरा, घरों के भीतर स्त्रियों के उत्पीड़न और उनके घरेलू श्रम का दोहन करके। यदि घरों में रसोई के काम से लेकर बच्चों के लालन-पालन का काम औरतें न करें तो मज़दूर वर्ग की श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन सुचारू रूप से हो ही नहीं सकता और यह काम भी पूँजीपति वर्ग को स्वयं अपने ख़र्च पर करवाना पड़ेगा, यानी मज़दूरों के लिए रसोइयों को खोलना, बच्चों का लालन-पालन करना आदि। यह बहुत ख़र्चीला होगा। घरों के भीतर औरतों के उत्पीड़न के ज़रिए यह काम बहुत ही सस्ते में हो जाता है। इस प्रकार मज़दूरों की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की औसत लागत गिर जाती है। अगर औरतों का उत्पीड़न और घरेलू श्रम न होता तो पूँजीपतियों को कहीं ज़्यादा लागत के साथ श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन का काम भी ख़ुद ही करवाना पड़ता।

तीसरा तरीक़ा है आँगनवाड़ी, आशा आदि जैसी सरकारी तथाकथित "सामाजिक स्कीमें"। इन स्कीमों के ज़रिए बच्चों, गर्भवती महिलाओं आदि की देखरेख व पोषण तथा शुरुआती शिक्षा के ज़रिए पूँजीपति वर्ग बहुत-से वे काम बेहद सस्ते में करा लेता है, जो कि बाक़ायदा अच्छा भोजन मुहैया कराने, अच्छी स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधा मुहैया कराने में सरकार को कहीं ज़्यादा ख़र्च होता। इसके लिए उसे बाक़ायदा समस्त सुविधाओं से लैस देखरेख केन्द्र खोलने पड़ते, मैटर्निटी सेण्टर खोलने पड़ते, अच्छे स्कूल व अस्पताल खोलने पड़ते, उनमें बाक़ायदा वेतनमान पर कर्मचारी रखने पड़ते। लेकिन इस काम को सरकार स्वयं मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी की ही औरतों का कौड़ियों के दाम पर शोषण करके करवा लेती है और अपना ख़र्च कई गुना बचाती है। दूसरी बात, यह भोजन वितरण, देखरेख आदि का ख़र्च देता कौन है? आप कहेंगे कि वह तो सरकार देती है। लेकिन सरकार अपने घर से तो नहीं देती! केजरीवाल या मोदी अपने और अपने विधायकों के लाखों के वेतन से तो यह ख़र्च नहीं उठाता है! इन स्कीमों का ख़र्च भी सरकारी ख़ज़ाने से आता है। लेकिन सरकारी ख़ज़ाना कहाँ से आता है? जी हाँ, आपके और हमारे द्वारा हर वस्तु या सेवा को ख़रीदने में दिये गये अप्रत्यक्ष कर से, जिन्हें लगातार बढ़ाया जा रहा है।

महिला एवं बाल कल्याण विभाग के दफ़्तर पर आँगनवाड़ीकर्मियों का क़ब्ज़ा

अगर सरकार ये स्कीमें न चलाये तो आम मेहनतकश घर का ख़र्च अपने बच्चों के पोषण, औरतों की देखभाल और मातृत्व देखरेख में और भी ज़्यादा बढ़ जायेगा। यदि मेहनतकश घरों का यह ख़र्च बढ़ेगा तो फिर श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन का ख़र्च भी बढ़ेगा। यदि श्रमशक्ति का मूल्य बढ़ता है तो समाज में औसत मज़दूरी पर भी बढ़ने का दबाव पैदा होता है और देर-सबेर पूँजीपतियों को मज़दूरी कुछ बढ़ानी ही पड़ती है, हालाँकि यह भी कभी मज़दूरों के संघर्ष के बिना नहीं होता है। लेकिन जब मज़दूरों के लिए अपने घर-परिवार को चलाना मुश्किल हो जाता है, तो वे संघर्ष करते ही हैं और इसका नतीजा कई बार मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के रूप में ही सामने आता है।

इसलिए पूँजीपति वर्ग की सेवा में लगी पूँजीवादी सरकार (चाहे वह भाजपा की हो, आम आदमी पार्टी की हो या फिर कांग्रेस की या किसी और चुनावबाज़ पार्टी की) श्रमशक्ति के मूल्य को कम रखने में अपना योगदान देती है। और यह वह कैसे करती है? जनता से ही अप्रत्यक्ष करों के रूप में पैसा वसूलो! फिर उस पैसे से आम मेहनतकश जनता के घरों की स्त्रियों को कौड़ियों के दाम आँगनवाड़ी कार्यकर्ता या सहायिका या आशा कार्यकर्ता के तौर पर रखो और उन्हें कर्मचारी का दर्जा तक न दो और उनसे जमकर काम करवाओ! और फिर जनता के द्वारा पैदा किये गये खाद्यान्न व अन्य सामग्रियों से इन "सामाजिक स्कीमों" को चलाओ, और उसमें भी ग़रीब घर के बच्चों को और औरतों को गुणवत्ता वाला भोजन, गुणवत्ता वाली शिक्षा, गुणवत्ता वाली मातृत्व देखरेख, गुणवत्ता वाले देखरेख केन्द्र, और गुणवत्ता वाली चिकित्सा देने की बजाय भुखमरी के स्तर पर रखने वाला भोजन, अप्रशिक्षित आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं से ही सरकारी शिक्षकों का काम लेकर कामचलाऊ शुरुआती शिक्षा (ताकि सरकारी शिक्षकों की भी छँटनी की जा सके!), और कामचलाऊ मातृत्व देखभाल मुहैया कराओ! यानी आम के आम और गुठलियों के दाम! इस काम में भी सरकार मेहनतकश वर्गों की स्त्रियों की ही श्रमशक्ति का दोहन करती है और उनका शोषण करती है।

यह सच है कि आँगनवाड़ीकर्मी या आशाकर्मी स्वयं कोई माल उत्पादन नहीं करते और इस रूप में वे मूल्य व बेशी मूल्य का उत्पादन नहीं करते हैं। लेकिन वे आम तौर पर मज़दूर वर्ग की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की लागत को बेहद कम कर देती हैं और यह लागत भी पूँजीपतियों से नहीं वसूली जाती बल्कि मुख्य तौर पर मज़दूरों-मेहनतकशों द्वारा दिये जाने वाले अप्रत्यक्ष करों के रूप में मज़दूर वर्ग से ही वसूली जाती है। इसके कारण सामान्य रूप में पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा बढ़ता है क्योंकि यदि श्रमशक्ति का मूल्य घटता है और उसके पुनरुत्पादन की लागत कम होती है, तो पूँजीपतियों के मुनाफ़े की औसत दर बढ़ती है। क्यों? क्योंकि यदि श्रमशक्ति सस्ती होगी, तो मज़दूरों की मेहनत द्वारा उत्पादित कुल नये मूल्य में मज़दूरी का हिस्सा सापेक्षिक तौर पर कम होता है और इस तरह से पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा बढ़ता है क्योंकि मज़दूरों के श्रम द्वारा उत्पादित नये मूल्य के दो ही हिस्से होते हैं : मज़दूरी और मुनाफ़ा। यदि श्रमशक्ति का मूल्य कम होने के फलस्वरूप मज़दूरी घटती है और मज़दूरों का औसत श्रमकाल समान रहता है (वह तो आज समान रहने की बजाय मोदी सरकार के नये लेबर कोड द्वारा बढ़ाया जा रहा है!) तो फिर मुनाफ़े की दर बढ़ती है।

यही कारण है कि 1976 में जब इन्दिरा गाँधी द्वारा थोपे गये आपातकाल के दौर में भारतीय अर्थव्यवस्था मुनाफ़े की दर के संकट से जूझ रही थी, देश में ग़रीबी, बेरोज़गारी और महँगाई ने ताण्डव मचा रखा था तो पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाते हुए इन्दिरा गाँधी सरकार ने समेकित बाल विकास योजना यानी आईसीडीएस की शुरुआत की थी, जिसके मातहत आँगनवाड़ी और आशा की पूरी स्कीम आती है। ये सारी स्कीमें श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की लागत को कम करती हैं और इस प्रकार पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की औसत दर को बढ़ाने में योगदान करती हैं। ऐसा कैसे होता है, यह हम ऊपर संक्षेप में समझा चुके हैं।

लेकिन ये ही आँगनवाड़ीकर्मियों व अन्य स्कीम वर्कर्स को लूटने का तरीक़ा नहीं है। आज अन्य तरीक़ों से भी पूँजीवादी सरकारें इस स्कीम के मज़दूरों व कामगारों के श्रम को निचोड़ रही हैं। उनसे चुनाव, जनगणना, वैक्सीनेशन, व अन्य सरकारी जाँचों का काम भी करवाया जाता है और उसके लिए उपयुक्त भत्ते नहीं तय किये जाते और जितने तय होते हैं उनका भी सरकारें अक्सर भुगतान नहीं करतीं। इस प्रकार आँगनवाड़ी व आशा कर्मचारियों से एक प्रकार से बेगार कराया जाता है। इसके ज़रिए सरकार अपना ख़र्च कम करती है ताकि अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला जैसे पूँजीपतियों और धन्नासेठों पर हज़ारों करोड़ रुपयों की सौग़ातों की बौछार कर सके।

उपरोक्त आर्थिक लूट के अलावा राजनीतिक उद्देश्यों के लिए भी आँगनवाड़ी व आशा वर्कर्स का इस्तेमाल सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ करती हैं। वे अपने चुनाव प्रचार, बूथ लेवल प्रबन्धन से लेकर तमाम राजनीतिक कामों के लिए इनका इस्तेमाल करती हैं।

ऐसे में एक अन्य कारक पूँजीपति वर्ग और उनकी सरकारों की मदद करता है। यह है आँगनवाड़ी व आशा स्कीम के तहत काम करने वाली कामगार स्त्रियों में राजनीतिक चेतना की कमी। एक इस प्रकार की सोच अक्सर इन मेहनतकश स्त्रियों में देखी जाती है कि आँगनवाड़ी व आशा का काम करने से उन्हें जो भी मामूली मानदेय मिलता है, वह तो बोनस या अतिरिक्त आय के समान है और जितना मिल रहा है, उतना ही ठीक है! यह अपने श्रमशक्ति के मूल्य और अपने श्रम की अहमियत को न समझने के कारण होता है। यह सोच बेहद आत्मघाती है। साथ ही, ये कामगार स्त्रियाँ अक्सर यह नहीं समझ पातीं कि उनके इस श्रम से पूँजीपति वर्ग और समूची पूँजीवादी व्यवस्था को किस प्रकार फ़ायदा पहुँचता है। जहाँ कहीं जुझारू व क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में आँगनवाड़ीकर्मियों व आशाकर्मियों ने अपने संघर्ष और हड़तालें लड़ी हैं, वहाँ धीरे-धीरे उनमें यह चेतना आ रही है कि उनका किस प्रकार शोषण होता है और किस प्रकार पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था उनकी मेहनत की लूट का फ़ायदा उठाती है।

दिल्ली में 38 दिनों तक (31 जनवरी 2022 से 9 मार्च 2022) तक दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में 22,000 आँगनवाड़ीकर्मियों की चली शानदार और ऐतिहासिक हड़ताल ने यह काम बख़ूबी किया : यानी आँगनवाड़ीकर्मियों की राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन। इस बीच केजरीवाल सरकार को मजबूर होकर आँगनवाड़ीकर्मियों के मानदेय में 22 से 24 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी करनी पड़ी। लेकिन दो कारणों से यह हड़ताल उसके बाद भी जारी रही : पहला, सरकार ने यूनियन से समझौता करके यह बढ़ोत्तरी लागू नहीं की थी और आँगनवाड़ीकर्मियों की माँग केवल मानदेय बढ़ोत्तरी की नहीं थी बल्कि मातृत्व अवकाश, पेंशन व ईएसआई जैसी सुविधाएँ भी थीं जिन पर केजरीवाल सरकार ने एक शब्द भी नहीं बोला; दूसरा, यह मानदेय बढ़ोत्तरी 2017 के बाद की गयी पहली मानदेय बढ़ोत्तरी थी और नाकाफ़ी थी क्योंकि पिछले पाँच वर्षों में महँगाई में 40 से 60 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है, जिसके कारण आँगनवाड़ीकर्मी कम से कम 60 प्रतिशत की मानदेय बढ़ोत्तरी की माँग कर रही थीं।

इसके बाद केजरीवाल सरकार ने हड़ताल को तोड़ने के लिए टर्मिनेशन लेटर, शो कॉज़ नोटिस आदि के ज़रिए डराकर, फ़र्ज़ी एफ़आईआर दर्ज कराकर हड़ताल को तोड़ने की लाख कोशिशें कीं, लेकिन हड़ताल और भी मज़बूत होती गयी। नतीजतन, आम आदमी पार्टी की केजरीवाल सरकार ने केन्द्र की मोदी सरकार के साथ साँठ-गाँठ करके हड़ताल पर हेस्मा क़ानून लगाकर उस पर छह माह की रोक लगवा दी। इसके जवाब में यूनियन ने हड़ताल को कुछ समय के लिए स्थगित कर इस क़ानून को लगाये जाने के फ़ैसले को रद्द करने के लिए अदालत का रुख़ किया है। क्यों? आइए समझते हैं।

हड़ताल के दौरान सभी चुनावी पार्टियाँ, विशेषकर आप और भाजपा, तो बेनक़ाब हुई ही थीं, लेकिन पुलिस और नौकरशाही भी बेनक़ाब हुई थी। कार्यपालिका और विधायिका को बेनक़ाब करने के बाद आँगनवाड़ीकर्मियों का यह संघर्ष अब न्यायपालिका को भी कठघरे में खड़ा कर रहा है। यूनियन के नेतृत्व ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि यदि सुप्रीम कोर्ट हेस्मा जैसे काले क़ानून को थोपे जाने के फ़ैसले को रद्द नहीं करता तो फिर समूची पूँजीवादी व्यवस्था ही नंगी हो जायेगी और यह साफ़ हो जायेगा कि न्यायपालिका भी पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था की गोद में बैठी है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा यदि हेस्मा के थोपे जाने के अन्यायपूर्ण फ़ैसले को नहीं रद्द किया जाता तो उसके बाद हेस्मा को तोड़ते हुए दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मी अपनी हड़ताल फिर से शुरू कर देंगी, इस बात को 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' की कार्यकारिणी पहले ही स्पष्ट कर चुकी है।

यूनियन की कार्यकारिणी ने यह भी फ़ैसला लिया है कि संघर्ष एक अन्य रूप में जारी रहेगा। इस मसले के अदालत में न्यायाधीन होने तक दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ीकर्मी दिल्ली नगर निगम चुनावों में आम आदमी पार्टी और भाजपा का पूर्ण बहिष्कार कर उनकी वोटबन्दी करेंगे और पूरे शहर में उन्हें चुनाव प्रचार

(पेज 12 पर जारी)

यूक्रेन में जारी साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करो!
रूसी आक्रमण के ख़िलाफ़ यूक्रेन की संघर्षरत मेहनतकश अवाम का साथ दो!

– सार्थक

युद्ध जो आ रहा है
पहला युद्ध नहीं है।
इससे पहले भी युद्ध हुए थे।
पिछला युद्ध जब ख़त्म हुआ
तब कुछ विजेता बने और कुछ विजित
विजितों के बीच आम आदमी
भूखों मरा
विजेताओं के बीच भी मरा
वह भूखा ही।

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

दो साम्राज्यवादी ख़ेमों की आपसी प्रतिस्पर्धा की क़ीमत विश्व की आम जनता एक बार फिर चुका रही है। एक ओर साम्राज्यवादी रूस और दूसरी ओर साम्राज्यवादी अमेरिका के नेतृत्व में नाटो (उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि संगठन)। इन दोनों साम्राज्यवादी ख़ेमों की आपसी प्रतिस्पर्धा में यूक्रेन की जनता युद्ध की भयंकर आग में झुलस रही है। 24 फ़रवरी को साम्राज्यवादी रूस ने यूक्रेन पर युद्ध की घोषणा कर दी। इस घोषणा ने रूस और अमेरिका के नेतृत्व में नाटो के बीच महीनों से चल रहे वाकयुद्ध को वास्तविक युद्ध में बदल दिया है, हालाँकि नाटो इस युद्ध से किनारे हो गया है और यूक्रेन की जनता पर रूसी साम्राज्यवाद को क़हर बरपा करने के लिए खुला हाथ दे दिया है। अत्याधुनिक सामरिक हथियारों और टैंकों से लैस रूसी सेना यूक्रेन के दक्षिण, पूर्व और उत्तर-पूर्व की ओर से यूक्रेन के प्रमुख शहरों को क़ब्ज़े में लेते हुए राजधानी कीव पर नियंत्रण के लिए घमासान युद्ध कर रही है। वहीं रूसी वायुसेना यूक्रेनी सामरिक अड्डों और प्रशासनिक इमारतों के साथ ही अस्पतालों, रिहायशी इलाक़ों, बाज़ार, दूरसंचार केन्द्रों और अन्य ग़ैर-सामरिक संरचनाओं पर भी भारी बमबारी कर रही है। यूक्रेन के नागरिकों पर हो रही इस बमबारी में जानमाल का भारी नुक़सान हो रहा है। हज़ारों मासूम और बेगुनाह मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। ऐसी ही बमबारी में यूक्रेन में पढ़ रहे भारत के इक्कीस वर्षीय मेडिकल छात्र नवीन ज्ञानगोदार की ख़ारख़िव शहर के एक सुपर मार्केट के बाहर मौत हो गयी। अभी भी भारत के हज़ारों छात्र यूक्रेन के विभिन्न शहरों में बहुत ही असुरक्षित स्थिति में फँसे हुए हैं। यहाँ भारत में अपने सुरक्षित स्टूडियो में बैठी गोदी मीडिया मोदी सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क़सीदे पढ़ रही है, लेकिन बुर्जुआ अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के मानकों से भी देखा जाये तो मोदी सरकार की कूटनीति पूरी तरह अपंग दिख रही है। यूक्रेन में अभी भी हज़ारों भारतीय छात्र भारी बमबारी के बीच मौत से संघर्ष कर रहे हैं, लेकिन मोदी सरकार उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों में मिली चुनावी जीत का जश्न मना रही है। जब यूक्रेन पर हमला शुरू हो रहा था, उस समय भी छात्रों को वहाँ से सुरक्षित बाहर निकालने के बदले मोदी सरकार उत्तर प्रदेश समेत अन्य राज्यों में चुनावी रैलियों में व्यस्त थी। इसी तरह की आपराधिक लापरवाही की क़ीमत कोरोना महामारी के दौरान देश के पचास लाख लोगों ने अपनी जान गँवा कर चुकायी थी। फ़ासीवादी मोदी सरकार के लिए आम इन्सान की ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं है।

हालाँकि यूक्रेन पर रूस के इस हमले से अब तक हुई कुल मौतों की सटीक जानकारी नहीं मिल पायी है, मगर संयुक्त राष्ट्र के आधिकारिक सूत्रों के अनुसार इस हमले में 24 फ़रवरी से 8 मार्च तक 516 नागरिकों की मौत हो चुकी है। निश्चित ही नागरिक मौतों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा ही होगी। मरियोपोल के मेयर का दावा है कि अकेले उनके शहर में ही 1200 लोग मारे जा चुके हैं। सैन्य मौतों की बात की जाये तो अमेरिकी अधिकारियों के अनुसार 9 मार्च तक लगभग 3000 से 4500 के बीच रूसी सैनिक मारे जा चुके हैं। इस आँकड़े के बरक्स, जहाँ एक तरफ़ रूसी आधिकारिक सूत्रों ने बताया है कि इस युद्ध में अब तक सिर्फ़ 500 रूसी सैनिक मारे गये हैं, वहीं दूसरी ओर यूक्रेन के अनुसार 6 मार्च तक 11000 रूसी सैनिक मर चुके हैं। दोनों ही पक्ष अपने देश के जनता का समर्थन बनाये रखने के लिए अपने सैनिकों की मौतों को यथा सम्भव कम करके बता रहे हैं। ज़ाहिर है, रूस के ज़्यादा सैनिक नहीं मारे गये होंगे। आँकड़ें वास्तव में चाहे जो भी हों, इतना तो तय है कि इस युद्ध ने महज़ दो हफ़्तों में हज़ारों लोगों की जान ले ली है और यह हर गुज़रते दिन के साथ ज़्यादा भयानक रूप ले रहा है। ख़ेरसों, ख़ारख़िव, सुमी, मरियोपोल, कीव आदि शहरों में बमबारी से हो रही तबाही को हम दिल दहला देने वाली तस्वीरें में देख सकते हैं। ये तस्वीरें एक दशक पहले सीरिया, लिबिया, यमन आदि देशों में शुरू हुए नरसंहार की याद दिलाते हैं। 9 मार्च को रूसी लड़ाकू विमानों ने मरियोपोल में एक प्रसूति अस्पताल पर आक्रमण कर दर्जनों गर्भवती महिलाओं और बच्चों को मलवे के नीचे ही दफ़ना दिया। बमबारी में हो रही मौतों और तबाही के अलावा, संयुक्त राष्ट्र के अनुसार 8 मार्च तक बीस लाख से ज़्यादा लोग अपना देश छोड़ पोलैण्ड, रोमानिया, जर्मनी, हंगरी आदि पड़ोसी देशों में शरणार्थी की तरह पनाह ले रहे हैं। पिछले कुछ सालों में पूरे यूरोप में जो धुर दक्षिणपन्थी लहर उठी है और शरणार्थियों के साथ जो अमानवीय बर्ताव हो रहा है, उसे देखते हुए इतना कहा जा सकता है कि इन यूक्रेनी शरणार्थियों के लिए आने वाले दिन काफ़ी मुश्किल होने जा रहे हैं।

'मज़दूर बिगुल' के पन्नों में हम लगातार यूक्रेन में रूस और अमेरिका के बीच की साम्राज्यवादी रस्साकशी के बारे में लिखते हुए इस तनाव की ज़मीन की विस्तृत पड़ताल करते आये हैं। आज साम्राज्यवादी दुनिया दो गुटों में बँटी हुई है – एक ओर कमज़ोर होते साम्राज्यवादी अमेरिका के नेतृत्व में नाटो ख़ेमा है और दूसरी ओर तेज़ी से उभरता हुआ रूसी-चीनी ख़ेमा। पिछले एक दशक से ही यूक्रेन इन दोनों ख़ेमों के बीच अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का एक हॉटस्पॉट बना हुआ था। आज यह एक फ़्लैशपॉइण्ट में बदल चुका है। एक ओर अफ़ग़ानिस्तान से शर्मसार होकर लौटने के बाद अमेरिका यूक्रेन को नाटो में शामिल कर अपनी कमज़ोर होती चौधराहट को दुबारा से हासिल करना चाहता है। वहीं दूसरी ओर साम्राज्यवादी रूस यूक्रेन को अपने नियंत्रण में रखते हुए पूरे पूर्वी यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्र की तरह विकसित करने का प्रयास कर रहा है। एक बार फिर यह याद दिलाना चाहेंगे कि यूक्रेन में रूसी सैन्य हस्तक्षेप 2014 में शुरू हो गया था। 2014 के यूरो-मैदान के प्रदर्शनों और उससे पहले 2004 की तथाकथित नारंगी क्रान्ति में पश्चिमी देशों ने एक अहम भूमिका निभायी थी। इन दोनों ही विरोध प्रदर्शनों के बूते यूक्रेन में पश्चिमी देश समर्थित हुकूमत सत्ता पर क़ाबिज़ हुई और यूक्रेन की यूरोपीय संघ और नाटो से क़रीबी बढ़ी। 2014 के यूरो मैदान प्रदर्शनों में रूस समर्थित विक्टर यानुकोविच के पदच्युत होने के बाद रूस ने क्रीमिया में प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप किया। इसके बाद पूर्वी यूक्रेन के दोनबास इलाक़े के दो प्रान्तों – दोनेत्स्क और लुगांस्क – में भयंकर गृहयुद्ध को हवा दी। इस गृहयुद्ध की भीषणता का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि रूस ने आज भी इसे ही हस्तक्षेप का मुद्दा बनाया है। अब तक इसमें लगभग पन्द्रह हज़ार लोग मारे जा चुके हैं। यह भी सच है कि रूस को इन सैन्य हस्तक्षेपों का मौक़ा इसलिए मिला क्योंकि पश्चिमी साम्राज्यवाद समर्थित अर्द्धफ़ासीवादी और दक्षिणपन्थी व उग्रराष्ट्रवादी पूँजीवादी सरकारों ने लुगांस्क और दोनेत्स्क तथा अन्य क्षेत्रों में रहने वाली रूसी आबादी और अन्य जातिगत समूहों व अन्य भाषाभाषी समुदायों पर ज़बर्दस्त अत्याचार जारी रखा था। यह रूसी साम्राज्यवादी हमले को सही नहीं ठहराता क्योंकि किसी देश के भीतर पूँजीपति वर्ग की सत्ता से निपटने का काम उस देश की जनता का होता है, किसी अन्य साम्राज्यवादी शक्ति का नहीं।

अमेरिका और नाटो ने 2014 के बाद से यूक्रेन को विशालकाय ऋण देने के अलावा भारी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र मुहैया करवाया है। 2015 में अमेरिका और पश्चिमी पूँजीवादी देशों द्वारा नियंत्रित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने यूक्रेन को 175 करोड़ डॉलर का ऋण दिया, जिसका एक बड़ा हिस्सा रक्षा क्षेत्र में लगाया गया। यह इतिहास में पहली बार हुआ था कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किसी गृहयुद्ध में फँसे देश को ऋण दिया हो। सोवियत यूनियन के विघटन के बाद से ही नाटो का पूर्वी यूरोप में विस्तार तेज़ी से बढ़ा। इसके साथ ही पश्चिमी साम्राज्यवाद का प्रभाव क्षेत्र भी बढ़ते-बढ़ते रूस की पश्चिमी सीमा तक पहुँच गया। हाल के वर्षों में अमेरिका और नाटो ने भारी तादाद में सैनिक और हथियार पोलैण्ड, लिथुआनिया, लातविया, इस्तोनिया जैसे पूर्वी यूरोपीय देशों में तैनात किये हैं। अमेरिका और नाटो ने यूक्रेन की सेना को प्रत्यक्ष सामरिक प्रशिक्षण तो दिया ही है, साथ ही यूक्रेन की राजनीति में धुर दक्षिणपन्थी ताक़तों को समर्थन व प्रत्यक्ष सामरिक प्रशिक्षण भी दिया। रूस ने भी दोनबास इलाक़े में सक्रिय रूसी भाषाभाषी व अन्य जातिगत अलगावपन्थी समूहों को बड़े पैमाने में हथियार मुहैया किये, रूसी सेना ने इन समूहों को सामरिक प्रशिक्षण दिया और लगातार गुप्त तरीक़े से यूक्रेन की सेना के ख़िलाफ़ हथियारबन्द कार्रवाइयों में हिस्सा भी लिया। ये समुदाय स्वयं भी यूक्रेनी पूँजीवादी सत्ता के क़ौमी दमन के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे और रूस ने अपने साम्राज्यवादी हितों के मद्देनज़र इनकी मदद की।

आज रूस इस दोनबास इलाक़े में ही यूक्रेन की सेना के द्वारा रूसीभाषी जनता पर हो रहे अत्याचार का हवाला देकर यूक्रेन पर हमले को विश्व के सामने जायज़ ठहराने की कोशिश कर रहा है। यह और कुछ नहीं बस रूसीभाषी जनता के अधिकारों के नाम पर पुतिन के विस्तारवादी मंसूबों पर पर्दा डालने की कोशिश है। सच्चाई यह है कि दोनबास में चल रहे गृहयुद्ध के लिए दोनो ही साम्राज्यवादी शक्तियाँ बराबर की ज़िम्मेदार हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि पिछले एक दशक में यूक्रेन में धुर दक्षिणपन्थी और अर्द्ध फ़ासिस्ट ताक़तों का तेज़ी से उभार हुआ है और उसने रूसीभाषी समुदायों का लगातार दमन-उत्पीड़न भी किया है। लेकिन सोचने की बात यह है कि जो दक्षिणपन्थी पुतिन सरकार आये दिन अपने ही देश में जनवादी मानकों का गला घोंटती रहती है वह कैसे किसी दूसरे देश को अर्द्ध फ़ासिस्ट ताक़तों से सुरक्षित करने का दावा कर सकती है? ऐसा करने के लिए क्यों पुतिन को आम जनता पर भारी बमबारी करने की आवश्कता हो गयी? यूक्रेन की जनता को अन्धराष्ट्रवादी तानाशाही और दक्षिणपन्थी ताक़तों से मुक्त कराने की ज़िम्मेदारी रूसी साम्राज्यवाद की नहीं है। यह ज़िम्मेदारी सिर्फ़ और सिर्फ़ यूक्रेन के मज़दूर वर्ग की अगुवाई में वहाँ की आम मेहनतकश जनता की है।

दोनबास इलाक़े की रुसीभाषी जनता को न्याय दिलाने के अलावा एक और तर्क पुतिन यूक्रेन युद्ध को सही ठहराने के लिए दे रहा है। तर्क है कि किसी ज़माने में यूक्रेन समेत पूरा पूर्वी यूरोप ज़ारशाही रूस और सोवियत यूनियन का हिस्सा हुआ करता था और इसलिए इस भू-भाग को अपने प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखना रूस का हक़ है। पुतिन ने यहा तक कह दिया कि 1991 में सोवियत यूनियन का विघटन वास्तव में "ऐतिहासिक रूस" का विघटन था। यह भूभाग ऐतिहासिक तौर से रूस का हिस्सा था और इसका विघटन दुर्भाग्यपूर्ण है। पश्चिमी साम्राज्यवादी मीडिया भी यही राग अलापती रहती है कि पुतिन यूक्रेन के साथ पूरे पूर्वी यूरोप पर आधिपत्य स्थापित कर एक बार फिर "अखण्ड सोवियत यूनियन" को पुनर्जीवित करने की कोशिश कर रहा है। सोवियत संघ, जैसा कि हम जानते हैं मज़दूर वर्ग की पहली व्यवस्थित राज्यसत्ता थी जिसकी स्थापना के केन्द्र में जनवाद था। एक धुर दक्षिणपन्थी नेता अपने विस्तारवादी व साम्राज्यवादी मंसूबों को उचित ठहराने की कोशिश में यदि सोवियत यूनियन का नाम ले रहा है तो सर्वाहारा अधिनायकत्व का इससे बड़ा अपमान और कुछ हो ही नहीं सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की यह ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी है कि दो साम्राज्यवादी ख़ेमों के बीच हो रही रस्साकशी में सोवियत यूनियन का नाम घसीटे जाने का विरोध करे। सबसे अहम बात यह है कि न पुतिन कम्युनिस्ट है और न ही पुतिन की पार्टी कम्युनिस्ट है। इसकी योजना किसी भी तरह से मज़दूर वर्ग की सत्ता स्थापित करने की नहीं है। इसकी एक मात्र योजना विश्व में अपनी साम्राज्यवादी चौधराहट स्थापित करने की है। इसके अलावा सबसे अहम बात यह है कि अपने क्रन्तिकारी दौर में (1917 से 1953 तक) सोवियत यूनियन की स्थापना राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार और अलग होने के अधिकार के साथ हुई थी। इस प्रकार यह जनवादी अधिकारों पर आधारित कई राष्ट्रीय गणराज्यों का यूनियन था। इस संघ में विभिन्न राष्ट्रीय गणराज्यों की स्वेच्छा से विलय हुआ था। इस विलय में ज़ोर-ज़बर्दस्ती या सैन्य दमन का अंश लेश मात्र भी नहीं था। स्विट्ज़रलैण्ड जैसे चन्देक अपवादों को छोड़कर, सोवियत यूनियन दुनिया का पहला बहुराष्ट्रीय राज्य बना जिसने सभी दमित राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया था। क्या पुतिन ने रूस में चेचेन जैसी दमित क़ौमों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया है? क्या यूक्रेन पर क़ब्ज़ा करने के बाद उसे अलग होने के अधिकार के साथ आत्मनिर्णय का अधिकार मिलेगा? क्या यूक्रेन स्वेच्छा से रूस के साथ विलय करना चाहता है या रूस के प्रभाव क्षेत्र का हिस्सा बनना चाहता है? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है – नहीं! तस्वीर स्पष्ट है पुतिन का विस्तारवाद क्रन्तिकारी सोवियत उसूलों पर नहीं बल्कि साम्राज्यवाद पर आधारित है और इसीलिए वह ज़ारशाही रूस के इतिहास का हवाला दे

(पेज 12 पर जारी)

यूक्रेन में जारी साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करो!

(पेज 11 से आगे)

रहा है। पुतिन "अखण्ड सोवियत संघ" को नहीं बल्कि "अखण्ड ज़ारशाही रूसी साम्राज्य" को पुनर्जीवित करना चाहता है। इसी ज़ारशाही रूसी साम्राज्य को "दमित राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं का क़ैदख़ाना" कहा जाता था।

लेख के आरम्भ में सुप्रसिद्ध जर्मन नाटककार और कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की उद्धृत कविता साम्राज्यवादी युद्ध की कठोर सच्चाई बयान करती है। जब कभी देशों के बीच अपने वर्चस्व और लूट को क़ायम रखने या उसका विस्तार करने के लिए युद्ध छेड़ा जाता है तो इस युद्ध की वेदी पर सबसे पहली बलि उन देशों के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की चढ़ती है। फिर जल्द ही पूरी दुनिया की मज़दूर-मेहनतकश अवाम को इसकी क़ीमत अपने ख़ून और पसीने से चुकानी पड़ती है। हर साम्राज्यवादी युद्ध की तरह इस युद्ध में होने वाले ख़र्च की भरपाई आम जनता के शोषण को बढ़ाकर की जायेगी। यूक्रेन पर रूसी हमले के बाद जर्मनी ने यह घोषणा कर दी है कि वह रक्षा के क्षेत्र में अपना व्यय बढ़ायेगा। सकल घरेलू उत्पाद का दो प्रतिशत अब रक्षा क्षेत्र पर ख़र्च किया जायेगा। ज़ाहिर है कि रक्षा के क्षेत्र में इस व्यय की बढ़ोत्तरी की भरपाई के लिए जर्मन सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर ख़र्च घटायेगी। सरकार जर्मन मेहनतकश जनता को अप्रत्यक्ष करों के माध्यम से ज़्यादा लूटेगी। बढ़ी क़ीमतों और आर्थिक अनिश्चितता का असर भी आम मेहनतकश आबादी को ही भुगतना होगा। यूक्रेन में युद्ध के शुरू होने के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय कच्चे तेल की क़ीमतें भी तेज़ी से बढ़ रही हैं और आने वाले दिनों में इसमें बड़ा उछाल आने की सम्भावना है। कच्चे तेल की क़ीमतें बढ़ने से पेट्रोल, डीज़ल और कई उपभोक्ता वस्तुओं की क़ीमत भी बढ़ेगी। इसकी मार यूक्रेन और रूस की मेहनतकश जनता के अलावा दुनिया की मेहनतकश जनता पर पड़ेगी। आर्थिक बोझ लादने के साथ तमाम देशों की सरकारें युद्ध की परिस्थिति का लाभ उठाकर क्षीण होते जनवादी अधिकारों के हनन की मुहिम और तेज़ कर देंगी। उदाहरण के लिए लिथुआनिया की सरकार ने यूक्रेन पर रूस के हमले के बाद अपने देश में आपातकाल की घोषणा कर दी है। रूस की सड़कों पर न्यायप्रिय जनता यूक्रेन पर हमले का विरोध कर रही थी पुलिस ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। युद्ध शुरू होने के एक हफ़्ते के अन्दर पुतिन सरकार ने युद्ध के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वाले 8000 से ज़्यादा रूसी नागरिकों को सलाख़ों के पीछे धकेल दिया है। 4 मार्च को रूस की संसद ने एक नया अधिनियम पारित किया है जिसके अनुसार रूसी सेना या यूक्रेन युद्ध पर "आपत्तिजनक" बोलने वालों पर पन्द्रह साल जेल और पन्द्रह हज़ार डॉलर जुर्माना हो सकता है। "राष्ट्रीय सुरक्षा" और "राष्ट्रीय हित" की आड़ में प्रतिरोध की हर आवाज़ को कुचलने के लिए सभी सरकारें तैयार बैठी हैं।

इस साम्राज्यवादी युद्ध में मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की क्या ज़िम्मेदारी है?

चाहे साम्राज्यवादी युद्ध दुनिया के किसी भी हिस्से में चल रहा हो, दुनिया के मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की ज़िम्मेदारी बनती है कि वे इसका पूर्ण विरोध करें। मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट दो साम्राज्यवादी ख़ेमों में एक पक्ष चुनने के लिए मजबूर नहीं है। मज़दूर वर्ग का अपना स्वतंत्र पक्ष है जो कि किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करता है। मुनाफ़े के अवसर, बाज़ार पर क़ब्ज़ा, संसाधनों की लूट और पूँजीपतियों की तिजोरी भरने के लिए छेड़े गये युद्ध में अगर कोई इस या उस साम्राज्यवादी ख़ेमे का समर्थन करता है तो वह सीधे दुनिया के मज़दूर वर्ग और ख़ास तौर पर युद्ध में लड़ रहे देशों के मज़दूर वर्ग के साथ ऐतिहासिक बेईमानी करता है, साम्राज्यवाद की बर्बरता का भी भागीदार बनता है।

किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध की फ़ौरन समाप्ति के अलावा, आक्रमणकारी साम्राज्यवादी देश के मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों की विशेष ज़िम्मेदारी यह बनती है कि "विपक्षी" साम्राज्यवादी देशों के शासक वर्ग का विरोध करने के साथ ही ज़्यादा महत्वपूर्ण यह है कि वे अपने देश के साम्राज्यवाद और उसके शासक वर्ग का कठोरतम तरीक़े से विरोध करें। स्पष्ट शब्दों में कहें तो रूस की कम्युनिस्ट ताक़तों और मज़दूर वर्ग की यह ज़िम्मेदारी है कि सबसे पहले वह पुतिन के साम्राज्यवाद और विस्तारवाद का सड़कों पर उतरकर विरोध करें। वहाँ की जनता ऐसा कर रही है लेकिन मज़दूर वर्ग के बीच ले जाकर इस प्रतिरोध को व्यापक और कारगर बनाने की आवश्यकता है। इसी तरह अमेरिकी, पश्चिमी यूरोपीय और नाटो देशों का मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें सबसे पहले अमेरिका और नाटो की साम्राज्यवादी नीतियों की भी स्पष्ट शब्दों में मुख़ालफ़त करें, आम मेहनतकश जनता के बीच अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रचार तंत्र के झूठों का भण्डाफोड़ करें। सबसे प्रमुख रूप से अपने शासक वर्ग के साम्राज्यवाद की मुख़ालफ़त करना सबसे क्रान्तिकारी नीति है और मज़दूर वर्ग को इसपर अमल करना चाहिए। उसका कोई देश नहीं होता और हर देश में रहने वाले मज़दूर वर्ग के साथ उसकी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी एकता होती है। हर देश के पूँजीपति वर्ग से उसकी दुश्मनी होती है, लेकिन सबसे पहले और सबसे प्रमुख रूप से उसके सामने उसके अपने देश का पूँजीपति वर्ग होता है। इसलिए सबसे पहले वह उसे निशाने पर रखता है, हालाँकि वह आम तौर पर समूचे साम्राज्यवाद की ही मुख़ालफ़त करता है। केवल इसी नीति से मज़दूर वर्ग अपने अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कर्तव्य का निर्वाह कर सकता है और समय आने पर साम्राज्यवादी युद्ध को क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में तब्दील कर सकता है।

साम्राज्यवादी युद्ध का सक्रिय विरोध करने के अलावा सभी देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों और मज़दूर वर्ग की एक और ज़रूरी ज़िम्मेदारी यह बनती है कि वे अपने देशों के हुक्मरानों से यह माँग करें कि वे इस साम्राज्यवादी युद्ध का मुखर विरोध करें। इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता कि इन देशों की इस युद्ध में सक्रिय भागीदारी नहीं भी हो। ऐसा करने से दोनों साम्राज्यवादी ख़ेमों पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव बनेगा। इसी आम कार्यादिशा के तहत हम भारत के मज़दूर वर्ग और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों का आह्वान करते हैं कि रूसी और अमेरिकी साम्राज्यवाद का विरोध करें। यूक्रेन से रूसी सेना की फ़ौरन वापसी की माँग करें और यूक्रेन की दक्षिणपन्थी ज़ेलेंस्की सत्ता का विरोध करते हुए संघर्षरत मेहनतकश जनता के साथ एकजुटता का प्रदर्शन करें। सड़कों पर उतरकर इस साम्राज्वादी युद्ध का विरोध करें और साथ ही मोदी सरकार से माँग करें कि भारत सरकार दोनों साम्राज्यवादी ख़ेमों के युद्धोन्माद की निन्दा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर करे। हाल ही में संयुक्त राष्ट्र में यूक्रेन युद्ध के ख़िलाफ़ हुए मतदान में भारत ने अपना मत देने से परहेज़ किया है। भारत का यूक्रेन पर रूसी हमले के ख़िलाफ़ निन्दा प्रस्ताव में मतदान न करना व एक अवसरवादी चुप्पी साध लेना यह दिखाता है कि भारत की फ़ासिस्ट सरकार रूसी साम्राज्यवाद से अपने रिश्ते ख़राब नहीं करना चाहती है और अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को क़ायम रखते हुए अपने देश के पूँजीपति वर्ग के हितों को प्रधानता देती है। भारत का पूँजीपति वर्ग अपने हितों के लिए नाटो देशों के पूँजीपति वर्ग और रूसी पूँजीपति वर्ग दोनों से ही अच्छे रिश्ते क़ायम रखना चाहता है। फ़ासिस्ट मोदी सरकार के साथ-साथ जो तमाम बुर्जुआ और संशोधनवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ यूक्रेन में चल रहे इस युद्ध पर चुप्पी साधे हुए हैं, वे सभी पार्टियाँ भी यूक्रेनी जनता के नरसंहार में बराबर की हिस्सेदार हैं। यह बुर्जुआ और संशोधनवादी राजनीति के मानवद्रोही चरित्र को बेनक़ाब करता है।

साम्राज्यवादी युद्ध अपने साथ दोहरी सम्भावना लेकर आता है। एक ओर यह युद्ध महँगाई, भुखमरी और मौत के अप्रत्याशित विनाश को जन्म देता है। वहीं दूसरी ओर यह युद्ध क्रान्तिकारी बदलाव की ज़मीन भी तैयार करता है। मज़दूर वर्ग, आम मेहनतकश जनता और सेना में फैले कष्ट, असन्तोष व परेशानियों को क्रान्तिकारी बदलाव की दिशा में मोड़ने के लिए अवसर भी देते हैं। यदि यूक्रेन और रूस में सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली क्रान्तिकारी शक्तियाँ मज़बूत होतीं तो इस युद्ध को क्रान्ति की ओर मोड़ सकती थीं। लेकिन यह आज के दौर का कड़वा यथार्थ है कि आज दुनिया के किसी भी देश में क्रान्ति की आत्मगत शक्तियाँ मज़बूत स्थिति में नहीं हैं। क्रन्तिकारी शक्तियों की अनुपस्थिति में धुर दक्षिणपन्थी शक्तियाँ इस आपदा को अवसर में बदलते हुए अन्ध राष्ट्रवाद को और तेज़ हवा दे रही हैं।

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक और नेता लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद का मतलब ही है युद्ध। आज हम अपनी आँखों के सामने लेनिन के इस कथन को हर रोज़ सत्यापित होते देख रहे हैं। यूक्रेन के अलावा दुनिया के कई हिस्सों में इस वक़्त साम्राज्यवादी युद्ध चल रहे हैं जिनमें लाखों लोगों की जानें जा रही हैं। जब यूक्रेन के पूर्वी और दक्षिणी शहरों में रूसी लड़ाकू विमान अपने पहले राउण्ड की बमबारी कर रहे थे ठीक उसी वक़्त सीरिया पर इज़रायली लड़ाकू विमान, सोमालिया पर अमेरिकी लड़ाकू विमान और यमन पर सऊदी लड़ाकू विमान बमबारी कर रहे थे। पचहत्तर सालों से फ़िलिस्तीनी और कश्मीरी जनता भी अपने आत्मनिर्णय के जनवादी अधिकार के लिए एक लम्बी जंग लड़ रही है। लेकिन उस पर पश्चिमी साम्राज्यवाद चुप्पी साधे रहता है क्योंकि फ़िलिस्तीन का इज़रायल द्वारा बर्बर क़ौमी दमन उसके फ़ायदे में है। हमें यह बात गाँठ बाँध लेनी होगी कि जब तक साम्राज्यवाद और यह पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम है तब तक दुनिया में ऐसे ही युद्ध होते रहेंगे और उन युद्धों में हमारे ही मज़दूर साथी मरते रहेंगे। अगर हम हमेशा के लिए युद्ध का अन्त चाहते हैं, अगर हम एक दीर्घकालिक अमन और भाईचारा चाहते हैं तो हमें मुनाफ़े पर टिकी इस पूँजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। हमें यह याद रखना होगा कि किसी भी देश के मज़दूर वर्ग का पहला शत्रु उसी देश का पूँजीपति वर्ग होता है। यह पूँजीपति वर्ग विदेशी पूँजी के साथ मिलकर शोषण करता है। अगर हम एक स्थायी शान्ति चाहते हैं तो एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी होगी जो मानव केन्द्रित हो मुनाफ़ा-केन्द्रित नहीं। दुनियाभर के मज़दूरों को अपनी वर्गीय एकजुटता के आधार पर और सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के रास्ते चलते हुए सर्वहारा क्रान्तियों के एक नये दौर की शुरुआत की ओर क़दम बढ़ाना होगा। रास्ता लम्बा है लेकिन यही अमन-चैन की स्थायी तौर पर स्थापना का रास्ता है। जर्मन और विश्व सर्वहारा की महान नेत्री रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने प्रथम साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध के ख़िलाफ़ दुनिया के सर्वहारा का आह्वान करते हुए जो लिखा था वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि वह सौ साल पहले था। रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने अपने प्रसिद्ध जूनियस पैम्फ़लेट में लिखा था :

"यह उन्माद थम जायेगा और नर्क का ख़ूनी दानव ग़ायब हो जायेगा जब जर्मनी और फ़्रांस, इंग्लैण्ड और रूस के मज़दूर अपनी जड़ता पूरी तरह तोड़ते हुए एक-दूसरे की तरफ़ भाईचारे का हाथ बढ़ायेंगें और मज़दूरों के प्राचीन व शक्तिशाली युद्ध घोष में साम्राज्यवादी युद्धों को उकसावा देने वालों और पूँजीवादी लकड़बग्घों की कर्णभेदी चित्कार डूब जायेगी : दुनिया के सर्वहारा एक हों!"

देखरेख करने वाले काम (केयर वर्क) का राजनीतिक अर्थशास्त्र

(पेज 10 से आगे)

के लिए अपने इलाक़ों में घुसने भी नहीं देंगे। इन रूपों में यह संघर्ष जारी रहेगा और अदालती फ़ैसले तक केवल हड़ताल स्थगित हुई है। यह एक सूझबूझ भरा क़दम है जो कि मौजूदा हड़ताल और 2015 और 2017 में हुई हड़ताल के दौरान हुए राजनीतिक प्रशिक्षण के ज़रिए आँगनवाड़ीकर्मियों की बढ़ी हुई राजनीतिक चेतना को प्रदर्शित करता है। यह सब इसलिए भी सम्भव हो पाया कि दिल्ली के आँगनवाड़ीकर्मियों ने सीपीएम की दलाल यूनियन सीटू को अपने बीच से जूते मारकर खदेड़ दिया और अपनी स्वतंत्र, जुझारू और क्रान्तिकारी यूनियन दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन का निर्माण किया जो कि अब देशभर की आँगनवाड़ीकर्मियों के लिए एक मिसाल बन चुकी है।

ऐसी हड़तालों और संघर्षों के ज़रिए राजनीतिक शिक्षण का कोई विकल्प नहीं हो सकता है। साथ ही, आँगनवाड़ीकर्मियों और अन्य स्कीम वर्कर्स को यह भी समझना होगा कि बिना किसी वस्तु और सेवा के उत्पादन और इस प्रकार सीधे मूल्य व बेशी मूल्य के उत्पादन के भी उनकी श्रमशक्ति का शोषण कैसे होता है और किस प्रकार उससे समूचा पूँजीपति वर्ग और समूची पूँजीवादी व्यवस्था फ़ायदा उठाती है। उनकी मेहनत के बिना पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था के लिए तमाम मुश्किलें पैदा हो जायेंगी। इसीलिए दिल्ली की शानदार और ऐतिहासिक हड़ताल पर दिल्ली की केजरीवाल सरकार और केन्द्र की मोदी सरकार को मिलकर हेस्मा जैसा असंवैधानिक क़ानून थोपना पड़ा है। लेकिन उन्हें इस बात का अन्दाज़ा नहीं है कि इससे दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का संघर्ष केवल और ज़्यादा तीखा और जुझारू होगा और साथ ही इन दोनों ही सरकारों और उन पर क़ाबिज़ पार्टियों का पूर्ण बहिष्कार इन पार्टियों के लिए भारी दिक़्क़तें खड़ी करने वाला है।

मण्डल-कमण्डल की राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू : त्रासदी से प्रहसन तक

– विवेक

90 के दशक के उपरान्त सामाजिक न्याय व हिन्दुत्व सम्भवतः भारतीय चुनावी राजनीति में दो अहम शब्द बन चुके हैं। हर चुनाव में इन्हें ज़रूर उछाला जाता है। यह दीगर बात है कि हाल के एक दशक के दौरान कमण्डल या यूँ कहें कि उग्र हिन्दुत्ववादी राजनीति का बोलबाला रहा है। मौजूदा यूपी चुनाव में एक चुनावी सभा में योगी आदित्यनाथ ने कहा कि यह चुनाव 80 बनाम 20 की लड़ाई है, जिसका तात्पर्य बनता है यह बहुसंख्यक हिन्दू बनाम मुस्लिमों की लड़ाई है। इसके उपरान्त गेंद को अपने पाले में करने के लिए सपा में नये-नये शामिल हुए पुराने भाजपाई स्वामी प्रसाद मौर्य ने कहा कि यह चुनाव 85 बनाम 15 फ़ीसदी की लड़ाई है यानी सभी पिछड़े व दलित बनाम स्वर्णों की लड़ाई है। चुनाव की तारीख़ों के ऐलान से पहले प्रधानमंत्री मोदी ने ख़ुद काशी कॉरिडोर का उद्घाटन किया था। यूपी के उप मुख्यमंत्री केशव प्रसाद मौर्य ने मथुरा में मन्दिर का मुद्दा उठाया।

यह कहा भी जा रहा था कि यह मण्डल व कमण्डल के दौर की वापसी है। भाजपा ने पिछले डेढ़ दशक में अपने फ़ायर ब्राण्ड उग्र हिन्दुत्ववादी प्रचार के ज़रिए व्यापक हिन्दू आबादी, चाहे जिस भी जाति के हों, उनको हिन्दू अस्मिता का हवाला देकर अपना वोट बैंक बनाया है। यहाँ तक कि तथाकथित सामाजिक न्याय की बात करने वाली पार्टियाँ जैसे सपा, बसपा व राजद सरीखी पार्टियों ने भी समय-समय पर सॉफ़्ट हिन्दुत्व का कार्ड खेलकर अपने वोट बैंक बचाने व भाजपा के वोट बैंक में सेंधमारी करने का असफल प्रयास भी किया है। 2017 में भाजपा को 61 फ़ीसदी ग़ैर-यादव ओबीसी वोट मिला था, जो किसी भी विधानसभा चुनाव में बड़ी तादाद है। और इस बार यानी 2022 में भी ग़ैर-यादव ओबीसी वोट का बड़ा हिस्सा भाजपा को प्राप्त हुआ है। स्पष्ट है कि मण्डल की राजनीति को कमण्डल की राजनीति ने पीछे धकेल दिया है। इसमें ताज्जुब की कोई बात भी नहीं है क्योंकि पहचान की राजनीति में अक्सर ज़्यादा बड़ी पहचान की नुमाइन्दगी करने वाली पहचान की राजनीति ज़्यादा हावी हो जाती है।

बहरहाल, अगर यूपी चुनाव में फिर से लोग मण्डल की राजनीति के वापस लौटने की बात कर रहे थे, तो उसके पीछे का कारण क्या रहा? इसका एक मुख्य कारण प्रदेश में बढ़ती बेरोज़गारी व शिक्षा के घटते अवसर हैं। दलित व पिछड़ी जातियों की आबादी का बड़ा हिस्सा भी शिक्षा और रोज़गार के घटते अवसरों व बढ़ती महँगाई से आजिज़ तो हुआ ही है। अब इन तबक़ों से आने वाले युवाओं को शिक्षा व रोज़गार के समुचित अवसर चाहिए। ज़्यादा समय नहीं बीता जब यूपी में शिक्षक बहाली को लेकर इन तबक़ों द्वारा सीटों में आरक्षण को बढ़ाने की माँग भी शुरू हो गयी थी। लेकिन इसके बावजूद 2022 के उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनावों में भाजपा की भारी विजय ने दिखलाया कि सबसे ग़रीब दलितों और ग़ैर-यादव पिछड़ों में ख़ैरात बाँटने की और उसे हिन्दुत्ववाद से मिलाने की जो चाल भाजपा सरकार ने चली थी, वह कामयाब हुई है। दूसरी तरफ़ विपक्षी शक्तियों के पास भाजपा के समान संघी काडरों का समाज की जड़ों तक फैला व्यापक नेटवर्क नहीं है।

मण्डल व कमण्डल की राजनीति का इतिहास

80 के दशक में बीपी मण्डल की अध्यक्षता में बने मण्डल आयोग ने सिफ़ारिश की कि सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों को सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति को मिल रहे 22.5% आरक्षण से अलग 27% आरक्षण दिया जाना चाहिए। इस सिफ़ारिश पर जब तक विचार होता, केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार गिर गयी और यह रिपोर्ट ठण्डे बस्ते में चली गयी।

इसके उपरान्त 1989-90 में वीपी सिंह की सरकार द्वारा देश में मण्डल कमीशन की रिपोर्ट पर आधारित सिफ़ारिशों को मंज़ूरी देने का प्रस्ताव दिया गया, इसके उपरान्त देशभर में इसके समर्थन व विरोध में पुरज़ोर प्रदर्शन हुए। विशेषकर उत्तर प्रदेश व बिहार में अन्य पिछड़े और क्षेत्रीय नेता पूरे दमखम से उभर आये। इसी मण्डल की राजनीति से लालू यादव, मुलायम सिंह यादव, शरद यादव व रामविलास पासवान जैसे नेताओं ने अपनी साख बनायी थी।

तभी 1989-90 के दौर में ही भाजपा ने अयोध्या में राम मन्दिर के लिए आन्दोलन को हवा दी थी। यानी 'कमण्डल' की राजनीति। देश में रथयात्रा निकाली गयी, व्यापक हिन्दू एकजुटता की बात करते हुए, राम मन्दिर आन्दोलन के रास्ते भाजपा ने अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकी।

अव्वल बात तो यह कि जातिगत अस्मिता की राजनीति चाहे किसी भी रूप में की जाये वह आज नहीं तो कल दक्षिणपन्थ के पंककुण्ड में गिरती ही है। जैसा ऊपर भी कहा गया है कि समय-समय पर सपा व राजद जैसी सामाजिक न्याय की बात करने वाली पार्टियाँ ज़रूरत पड़ने पर हिन्दू अस्मिता का कार्ड भी खेलने लग जाती हैं। इन्हीं चुनावों के दौरान अखिलेश यादव ने और भव्य राम मन्दिर बनाने की बात भी कही थी। मण्डल की राजनीति के पहले चरण में तो सामाजिक न्याय की बात करने वाले नेता हिन्दुत्व का कार्ड खेलने से थोड़ा झिझकते भी थे। परन्तु, इस नये चरण में तो कई मौक़ों पर ये तमाम दल, हिन्दुत्व का कार्ड खेलने में भाजपा को भी टक्कर दे देते हैं। दरअसल, यह उनकी विचारधारात्मक हार भी है और इस खेल में वह कभी भाजपा को हरा नहीं सकते हैं।

दूसरी बात, यह कि मण्डल की राजनीति जातिगत उत्पीड़न के ख़ात्मे का रास्ता कदापि नहीं हो सकती है। महज़ आरक्षण बढ़ाकर सामाजिक न्याय की बात करना ही अपने आप में एक भद्दा मज़ाक़ है। आरक्षण के सन्दर्भ में 'मज़दूर बिगुल' व हमारे अन्य लेखनों में यह बात बार-बार आयी है।

मण्डल व कमण्डल की राजनीति, दोनों ही मेहनतकश जनता के पक्ष में नहीं हैं!

जिस कमण्डल की राजनीति 90 के दशक में फ़ासीवादी शक्तियों के ज़रिए विषबेल के समान पनपी थी, आज वह टुटपुँजिया वर्गों के एक फ़ासीवादी सामाजिक आन्दोलन का ज़हरीला विशाल बरगद बन चुकी है। यह कहना ग़लत न होगा कि इस हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद को इस तथाकथित सामाजिक न्याय व अस्मिता की राजनीति ने भी खाद पानी देने का काम किया है। अगर यह कहा जाये कि मण्डल व कमण्डल की राजनीति कुछ विशिष्ट अर्थों में एक ही सिक्के के दो पहलू रहे हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगा।

भाजपा ने कमण्डल यानी हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की राजनीति के ज़रिए 90 के दशक व हालिया 10 सालों में केन्द्र व राज्य में सत्ता हासिल की है। पिछले एक दशक में भाजपा बहुसंख्यक हिन्दू आबादी का ध्रुवीकरण करने में एक हद तक कामयाब भी हुई है।

भाजपा व संघ के अन्य अनुषंगी संगठन अपने प्रचार में जनता को यह विश्वास दिलाते रहे हैं कि जाति की पहचान से ऊपर उठकर अपनी हिन्दू पहचान को अपनायें। लेकिन यह भी अकाट्य सत्य है कि भाजपा व संघ का दलित विरोधी चेहरा समय-समय पर सामने आ ही जाता है। यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि सत्ता में आने के उपरान्त भाजपा ने मेहनतकश विरोधी व पूँजी पक्षीय नीतियों को बढ़ावा दिया है।

जहाँ-जहाँ मण्डल की राजनीति करने वाले दलों की सरकारें रही हैं, उनके शासन वाले राज्यों में भी क्या आम मेहनतकश जनता को शिक्षा व रोज़गार जैसी बुनियादी सुविधाएँ मिलीं? क्या इन्हीं जातिगत छत्रप नेताओं के शासन वाले राज्यों में जातिगत दमन-उत्पीड़न व नरसंहार तक की घटनाएँ नहीं हुईं? यानी सीधे शब्दों में मेहनतकश आबादी के लिए न तो मण्डल की राजनीति में कुछ रखा है और न ही कमण्डल की राजनीति में।

और अन्त में...

अभी-अभी हुए विधानसभा चुनाव में भाजपा को पाँच में से चार राज्यों में जीत हासिल हुई है। बुर्जुआ पत्रकारों व पराजयवादी तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवीयों द्वारा उत्तर प्रदेश में सपा के जातिगत समीकरण के विफल होने का विश्लेषण पेश किया जायेगा। लेकिन जैसा लेख में पहले भी इंगित है कि अगर भाजपा हार जाती और सपा जीत भी जाती तो, तो इसका हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की सेहत पर कोई गुणात्मक प्रभाव शायद ही पड़ता। पहली बात तो यह कि चुनावों के ज़रिए फ़ासीवाद को परास्त करने का दावा अपने आप में ही हास्यास्पद है। इसके सम्बन्ध में मज़दूर बिगुल के पिछले अंकों में काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है।

जातिगत उत्पीड़न के उन्मूलन के लिए बुर्जुआ वर्ग की इस या उस पार्टी का पिछलग्गू बनना, मूलतः जाति उन्मूलन की परियोजना को नुक़सान ही पहुँचाता है। ना ही सपा के जीतने से पिछड़ों, अति पिछड़ों व दलित जातियों के हालात में कोई सकारात्मक परिवर्तन आता। वास्तव में यह मण्डल-कमण्डल की राजनीति किसी भी तरह से व्यापक मेहनतकश आबादी के पक्ष में खड़ी हो ही नहीं सकती है। अस्मितावादी राजनीति का कोई भी संस्करण अन्ततोगत्वा दक्षिणपन्थ के गड्ढे में ही गिरता है, चाहे वह सामाजिक न्याय की बात करने वाले मण्डल ब्राण्ड जेपी लोहिया के नामलेवा समाजवादी हों या दलित एकता की बात करने वाली अम्बेडकरवादी पार्टियाँ हों। भारत की बुर्जुआ चुनावी राजनीति ने इस बात को हालिया इतिहास में कई बार सिद्ध किया है।

इसलिए आज मेहनतकश जनता को अपनी वर्गीय पहचान के तहत एकजुट होना होगा। बेशक इस बात को भी समझना होगा कि जातिगत उत्पीड़न व दमन के अन्त का प्रश्न व्यवस्था परिवर्तन के प्रश्न से ही जुड़ा हुआ है। इसलिए बिना पूँजीवाद का विरोध किये, जातिगत उत्पीड़न के ख़ात्मे की बात करना बेईमानी ही होगी।

जिनकी मेहनत से दुनिया जगमगा रही है वे अँधेरे के साये में जी रहे हैं

– धर्मराज, अविनाश

इलाहाबाद में संगम के बग़ल में बसी हुई मज़दूरों-मेहनतकशों की बस्ती में विकास के सारे दावे हवा बनकर उड़ चुके हैं। आज़ादी के 75 साल पूरा होने पर सरकार अपने फ़ासिस्ट एजेण्डे के तहत जगह-जगह अन्धराष्ट्रवाद की ख़ुराक परोसने के लिए अमृत महोत्सव मना रही है वहीं दूसरी ओर इस बस्ती को बसे 50 साल से ज़्यादा का समय बीत चुका है लेकिन अभी तक यहाँ जीवन जीने के लिए बुनियादी ज़रूरतें, जैसे पानी, सड़कें, शौचालय, बिजली, स्कूल आदि तक नहीं हैं।

तकिया नाम की इस बस्ती में 250-300 झुग्गियाँ हैं जिनमें लगभग 900 वोटर हैं और कुल आबादी 1500-1600 के आसपास है। बस्ती की बड़ी आबादी दिहाड़ी मज़दूरी करती है। इसके अलावा यहाँ की आबादी साफ़-सफ़ाई, कबाड़ इकठ्ठा करने, ई-रिक्शा चलाने आदि के काम में लगी हुई है। बस्ती की महिलाएँ अल्लापुर, जार्ज टाउन आदि मध्यवर्गीय कॉलोनियों में घरेलू कामगार हैं। अपनी मेहनत से इलाहाबाद को चलाने वाले इन मेहनतकशों के घर पिछले 27 दिनों से अँधेरे में डूबे हुए हैं। उत्तर प्रदेश की फ़ासीवादी भाजपा सरकार माघ मेले की चकाचौंध रोशनी में अपने सारे पाप धुल देना चाहती है और इसलिए संगम के किनारे बसी इस बस्ती की बिजली को माघ मेले में स्थानान्तरित कर एक झटके में सैकड़ों परिवारों को अँधेरे में जीने के लिए मजबूर कर दिया गया। बिजली की समस्या के मद्देनज़र यहाँ के लोग तत्कालीन भाजपा विधायक हर्षवर्धन, पूर्व कांग्रेसी विधायक अनुग्रह नारायण और समाजवादी पार्टी के प्रत्याशी सन्दीप यादव के घरों का चक्कर लगाते रहे लेकिन हर जगह से निराशा ही हाथ लगी। बिजली विभाग के अधिकारी लगातार इस मसले पर टाल-मटोल करते रहे और अपने बिचौलियों के माध्यम से इन मेहनतकशों से 5000-5000 एंठने की जुगत में थे। बाद में बिगुल मज़दूर दस्ता और दिशा छात्र संगठन (जो इस बस्ती में सावित्रीबाई फुले-फ़ातिमा शेख़ शिक्षा सहायता मण्डल भी चलाता है जिसके ज़रिए यहाँ के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है) के कार्यकर्ताओं ने मोहल्ले में इस मुद्दे को लेकर अभियान संगठित किया और लोगों के हस्ताक्षर जुटाकर लगातार बिजली विभाग के कर्मचारियों पर दबाव बनाया तब जाकर 28 दिन बाद बस्ती में बिजली सप्लाई बहाल हुई।

चुनावी पार्टियों के नारों और वादों की असली सच्चाई यह है कि इस बस्ती में पानी निकासी के लिए नालियों की कोई व्यवस्था ही नहीं है। बरसात के मौसम के अलावा सामान्य दिनों में भी बस्ती में जल भराव की समस्या बनी रहती है जिससे यहाँ के लोग लगातार कई तरह की बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं। सबके लिए शौचालय बनवाने की डींग हाँकने वाली भाजपा पिछले पाँच वर्षों से केन्द्र, राज्य की सत्ता और इलाहाबाद के नगर निगम पर क़ाबिज़ है लेकिन इस बस्ती के 300 घरों के बीच एक भी शौचालय नहीं है। लोगों को शौच के लिए बस्ती से ढाई-तीन किलोमीटर दूर खुले में जाना होता है जहाँ आये दिन प्रशासन से झड़प होती रहती है।

पिछले दिनों शिक्षा की स्थिति को जानने के मद्देनज़र दिशा छात्र संगठन की टीम ने बस्ती का सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण में पाया गया कि बस्ती में एक भी विद्यालय नहीं है। सबसे पास में जो स्कूल है भी, वह केवल एक अध्यापक और एक शिक्षामित्र के भरोसे चल रहा है। पास के निजी स्कूलों की फ़ीस इतनी महँगी है कि बस्ती के लोग अपने बच्चों को वहाँ भेज ही नहीं पाते हैं। जिसका नतीजा यह है कि सर्वेक्षण में शामिल 8-15 वर्ष के 138 बच्चों में से 52 आज तक स्कूल गये ही नहीं और जो बच्चे स्कूल की दहलीज़ पर पहुँचे भी तो कोरोना महामारी के चलते सरकारी कुप्रबन्धन ने उनसे यह अधिकार भी छीन लिया है। 36 बच्चों ने कोरोना महामारी के बाद से स्कूल छोड़ दिया है।

वैसे तो बस्ती में मिली जुली आबादी है लेकिन फिर भी बस्ती में एक तरफ़ हिन्दू आबादी बहुसंख्या में है और दूसरी तरफ़ मुस्लिम आबादी। एक तरफ़ बस्ती में तमाम एनजीओ कभी कम्बल बाँटकर तो कभी बच्चों के लिए टॉफ़ी, किताब, कॉपी बाँटकर लोगों के ग़ुस्से पर ठण्डे पानी का छींटा मारते रहे हैं और लोगों की राजनीतिक वर्ग चेतना को धूमिल कर रहे हैं। दूसरी ओर बस्ती में संघी अपनी नफ़रती राजनीति भी फैलाने की जुगत में लगे हुए हैं। संघ परिवार से जुड़ा कुलदीप मिश्र जो कि एक्सीड सेवा संस्थान नाम का एक एनजीओ चलाता है, वह अपने काम के ज़रिए मसीहावाद की राजनीति कर रहा है और लोगों का साम्प्रदायीकरण कर रहा है।

यह स्थिति केवल एक बस्ती की ही नहीं बल्कि देशभर की लाखों बस्तियों की कहानी है। जिनकी मेहनत से दुनिया जगमगा रही है वह अँधेरे के साये में जी रहे हैं। लेकिन यह स्थिति भी अजर-अमर नहीं है। जिस दिन यह आबादी अपनी संगठित शक्ति को पहचान लेगी उस दिन न तो यह व्यवस्था रहेगी, न लुटेरे रहेंगे और न ही शोषण का नामोनिशान बचेगा।

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) के अवसर पर

पितृसत्ता के ख़िलाफ़ कोई भी लड़ाई पूँजीवाद विरोधी लड़ाई से अलग रहकर सफल नहीं हो सकती!

– वारुणी

इस बार 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के 111 साल पूरे हो जायेंगे। यह दिन बेशक स्त्रियों की मुक्ति के प्रतीक दिवस के रूप में मनाया जाता है परन्तु जिस प्रकार बुर्जुआ संस्थानों द्वारा इस दिन को सिर्फ़ एक रस्मी कवायद तक सीमित कर दिया गया है, जिस प्रकार स्त्री आन्दोलन को सिर्फ़ मध्यवर्गीय दायरे तक सीमित कर दिया गया है, जिस प्रकार इस दिन को उसकी क्रान्तिकारी विरासत से धूमिल किया जा रहा है और जिस प्रकार उसे उसके इतिहास से काटा जा रहा है, ऐसे में ज़रूरी है कि हम यह जानें कि कैसे स्त्री मज़दूरों के संघर्षों को याद करते हुए अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाने की शुरुआत हुई थी।

यह दिन मेहनतकश स्त्रियों के लिए एक प्रेरणा का स्रोत है लेकिन आज मेहनतकश औरतों की एक बड़ी आबादी को यह पता ही नहीं है कि अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस की शुरुआत किस प्रकार हुई। ज्ञात हो कि मज़दूरों के संघर्षों की एक कड़ी में ही महिला मज़दूरों ने अपने अधिकारों की लड़ाई शुरू की थी। 1857 में 8 मार्च को अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर में महिला कपड़ा मज़दूरों ने बेहतर मज़दूरी और कार्य स्थितियों के लिए विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया जिसका सरकार ने बुरी तरह दमन किया। लेकिन इन महिलाओं ने दो वर्ष बाद अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए अपनी पहली यूनियन बनायी। इसके 51 वर्ष बाद 8 मार्च के दिन ही न्यूयॉर्क में क़रीब 20,000 महिला श्रमिकों ने बेहतर कार्य स्थितियों, वोट देने के अधिकार और बेहतर मज़दूरी के लिए प्रदर्शन किया। दो वर्ष बाद 1910 में कोपेनहेगेन में दुनियाभर की मज़दूर पार्टियों के अन्तरराष्ट्रीय मंच ने अन्तरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन का आयोजन किया। इसी सम्मेलन में जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेता क्लारा ज़ेटकिन ने यह प्रस्ताव रखा कि 8 मार्च का दिन अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में पूरी दुनिया में मनाया जाये। इस प्रस्ताव को एकमत से स्वीकार किया गया और तब से पूरी दुनिया में 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के तौर पर मनाया जा रहा है।

परन्तु आज भी भारत में एक बड़ी स्त्री मज़दूरों की आबादी अपनी इस विरासत से परिचित नहीं है। आज ज़रूरत है कि उन्हें उनके इस गौरवशाली इतिहास से परिचित कराया जाये। आज भी भारत में मेहनतकश स्त्रियों की एक बड़ी आबादी बराबर काम के लिए पुरुषों से कम वेतन पाती है। आज भी कई क्षेत्रों में उन्हें बेगार खटाया जाता है। कई जगह सबसे कठिन, उबाऊ और महीन काम स्त्रियों के ज़िम्मे आते हैं। फ़ैक्टरियों में सुबह से शाम तक 10-12 घण्टे खटकर अपने सस्ते श्रम को बेचना, छोटे-छोटे वर्कशॉप या घरों में ही पीस रेट पर सिलाई-कढ़ाई का महीन काम करना, कम पैसे पर घरों में घरेलू कामगार का काम करना, आंगनवाड़ी या आशा वर्कर के रूप में बतौर वॉलण्टियर बेगार खटना और इन सब कामों में लगे होने के बाद अपने घर में खाना बनाने से लेकर बच्चे सँभालने तक की सारी ज़िम्मेदारी औरत को ही उठानी होती है!

वैसे तो घरेलू दासता सभी स्त्रियों को झेलनी पड़ती है लेकिन मेहनतकश औरतों की हालत नर्क से भी बदतर है। सस्ता होने के कारण स्त्रियों के श्रम को तमाम कम्पनियाँ और सरकारें बुरी तरह निचोड़ रही हैं। इस पूँजीवादी समाज में मज़दूर स्त्रियाँ न सिर्फ़ पूँजी की ग़ुलाम हैं बल्कि इसके साथ-साथ पितृसत्तात्मक उत्पीड़न का भी शिकार होती हैं। हर जगह उसे अपमान और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। पूँजीवाद के आविर्भाव के बाद बेशक स्त्रियों की एक विशाल आबादी काम के लिए घरों से बाहर निकल रही है लेकिन पूँजीवाद में भी स्त्रियों को उतनी ही आज़ादी प्राप्त हुई जितनी कि इस व्यवस्था को चलाते रहने के लिए उसकी ज़रूरत थी। पूँजीवाद ने स्त्रियों को घर की चौखट से बाहर निकाला भी तो केवल इसलिए ताकि उनका सस्ता श्रम निचोड़ा जा सके। कई लोग पूँजीवाद द्वारा लायी गयी इस आधुनिकता को ही स्त्री मुक्ति मान बैठते हैं लेकिन वे ग़लत हैं। उल्टे पूँजीवाद स्त्रियों की ग़ुलामी को एक नये रूप में स्थापित करता है। दूसरी तरफ़, यदि घरेलू कामकाज की बात करें तो आज भी स्त्रियों की बहुसंख्यक आबादी चूल्हे-चौखट में ही क़ैद है और वो तमाम स्त्री विरोधी सामन्ती व रूढ़िवादी मूल्य मान्यताएँ अभी भी क़ायम हैं।

पूँजीवाद में क़ानूनी तौर पर स्त्रियों को कई अधिकार मिले हैं लेकिन वह भी इस व्यवस्था ने ख़ुद ब ख़ुद नहीं दिये बल्कि लम्बे संघर्षों में उन अधिकारों को हासिल किया गया है। परन्तु आज भी वे अधिकार महज़ काग़ज़ी तौर पर मौजूद हैं। स्त्रियों को कई बुनियादी नागरिक अधिकार भी हासिल नहीं। आज सम्पत्तिशाली वर्ग से आने वाली स्त्रियों का एक तबक़ा भले ही घरेलू कामगारों या नौकरानियों को रख घरेलू कामों से छुटकारा पा चुका हो लेकिन मध्यम वर्ग और अन्य सम्पत्तिशाली वर्गों से आने वाली स्त्रियाँ अब भी घरेलू दासता से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। कई ज़रूरी फ़ैसलों में अब भी उनको कहने का अधिकार ना के बराबर होता है।

काग़ज़ी रूप में समान काम के लिए समान वेतन का क़ानून मौजूद है लेकिन धरातल पर वह कहीं भी मौजूद नहीं। एक स्त्री को जीवन के हर क्षेत्र में यौन-उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। पोस्को एक्ट से लेकर स्त्री विरोधी अपराध को रोकने के लिए कई क़ानून मौजूद हैं लेकिन फिर भी बलात्कार, यौन उत्पीड़न जैसी घटनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। पूँजीवादी माल उत्पादन में स्त्री भी एक माल के रूप में तब्दील कर दी गयी है। पूँजीवाद जिस कुसंस्कृति को परोस रहा है, वही ऐसी स्त्री विरोधी मानसिकता को पैदा करने का काम कर रहा है। यही कारण है कि स्त्री विरोधी अपराधों में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। दूसरी तरफ़ पूँजीवाद की जिस आधुनिकता का राग अलापा जाता है उसकी सच्चाई यह है कि स्त्रियों को आज ना सिर्फ़ रुढ़िवादी धार्मिक मूल्यों-मान्यताओं का दबाव झेलना पड़ता है बल्कि तरह-तरह की फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों और बीमार बुर्जुआ संस्कृति का दंश भी झेलना पड़ता है।

आज ज़रूरत है कि स्त्रियों की आज़ादी और बराबरी के अधिकार के लिए नये सिरे से संघर्षों को खड़ा किया जाये और जो अधिकार पहले से हमने हासिल किये हैं, उन्हें भी धरातल पर लागू करवाने के लिए संघर्ष किया जाये लेकिन स्त्री मुक्ति के संघर्ष को सिर्फ़ शहरी शिक्षित उच्च मध्यवर्ग तक सीमित नहीं रहने देना होगा बल्कि उसे मेहनतकश आबादी तक पहुँचाना होगा। हमें पूँजीवादी पितृसत्तात्मक विचारधारा के ख़िलाफ़ सतत् संघर्ष करना होगा। इसके साथ ही आर्थिक, सामाजिक व राजनितिक तौर पर स्त्री-पुरुष पूर्ण समानता के लिए लगातार संघर्ष करना होगा लेकिन हमें स्त्री मुक्ति के नाम पर स्त्री मुक्ति के आन्दोलन को महज़ स्त्री की पहचान की लड़ाई तक सीमित कर देने वाले एनजीओ संगठनों की घातक राजनीति के ख़िलाफ़ भी संघर्ष करना होगा। आज हमें यह समझना होगा कि पितृसत्ता के ख़िलाफ़ कोई भी लड़ाई पूँजीवाद विरोधी लड़ाई से अलग रहकर सफल नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भी सही है कि आधी आबादी की भागीदारी के बिना मज़दूर वर्ग भी अपनी मुक्ति की लड़ाई नहीं जीत सकता।

शान्तिश्री धुलिपुड़ी पण्डित की नियुक्ति, यानी जेएनयू पर आरएसएस-भाजपा का हमला जारी रहेगा!

– लता

2016 में जगदीश कुमार मामिडाला के कुलपति बनने के बाद लगातार जेएनयू पर एक के बाद एक हमले हुए। जेएनयू के छात्रों पर राष्ट्रद्रोह से लेकर आतंकवादी होने तक के आरोप लगाये गये। 2016 में देश की मीडिया के पास जेएनयू के अलावा कोई समाचार नहीं बचा था। देश के मुट्ठीभर छात्र जिनमें से कइयों के पास अपने मेस का बिल चुकाने तक के पैसे नहीं होते, देश की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा ख़तरा बन गये। फ़ासीवाद एक ही झूठ को हज़ार बार दुहराकर ज़हर और नफ़रत फैलाता है, साथ ही सड़कों पर न्याय कर देने की हिंसक प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। इसका शिकार जेएनयू के छात्र भी हुए। सड़कों पर कई जगह छात्रों पर हमले हुए। यहाँ तक कि जब जेएनयू के छात्र फ़ीस में बढ़ोत्तरी को लेकर आन्दोलन कर रहे थे तो बाहर से संघ के गुण्डे बुलाकर शिक्षकों और छात्रों पर हमले करवाये गये। इतना ही नहीं इस हमले की ज़िम्मेदारी भी जेएनयू के वाम समर्थक शिक्षकों और छात्रों पर लगायी गयी।

इस पूरे दौर में जेएनयू के अधिकतर शिक्षक और छात्र यह बताने की कोशिश कर रहे थे कि जेएनयू पर हमला किसी राष्ट्रद्रोही गतिविधियों की वजह से नहीं बल्कि यह हमला देश में उच्च शिक्षा पर हमला है। हमारे देश में प्राथमिक शिक्षा में तो शुरू से ही निजी क्षेत्र घुसा हुआ है। लेकिन गुणात्मक उच्च शिक्षा अभी भी मुख्यतः सार्वजनिक क्षेत्र में है। जेएनयू, आईआईटी, एम्स, अच्छे मेडिकल कॉलेज सार्वजनिक क्षेत्र के शिक्षण संस्थान हैं। निजी कॉलेजों की तुलना में इनमें से कुछ जगहों पर अपेक्षाकृत सस्ती और उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती है। जेनएनयू में देश के दूर-दराज़ से ग़रीब परिवारों से आये छात्र विश्व स्तर की शिक्षा बेहद सस्ते में ले सकते हैं। यहाँ छात्रावास की सुविधा भी बेहद सस्ती है। कुल मिलाकर यह एक ऐसा संस्थान है जहाँ ग़रीब पिछड़े तबक़े के छात्र भी पढ़ सकते हैं। ऐसे शिक्षण संस्थान उच्च शिक्षा के निजीकरण में सबसे बड़ा रोड़ा हैं। इन्हें रास्ते से हटाने के लिए पहले जेएनयू को बदनाम किया और बाद में इसकी फ़ीस में वृद्धि की गयी।

जनता में जेएनयू की छवि राष्ट्रद्रोहियों के अड्डे की बनायी गयी ताकि जब इस पर निजीकरण का असल हमला हो तो देश की जनता से इसे कोई समर्थन हासिल न हो। इसी योजना के तहत पहले जेएनयू में मामिडाला जगदीश कुमार को वाइस चांसलर बनाकर लाया गया। मामिडाला ने 2019 में फ़ीस बढ़ोत्तरी करने का प्रयास किया लेकिन जेएनयू के छात्रों ने जमकर प्रतिरोध किया। छात्रों के आन्दोलन और जनता के समर्थन के दबाव में फ़ीस वृद्धि को तात्कालिक तौर पर रोकना पड़ा लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था जिस आर्थिक संकट से गुज़र रही है उसे देखते हुए निजीकरण की प्रक्रिया रुकने नहीं जा रही है। नयी शिक्षा नीति कई जगहों पर लागू हो चुकी है लेकिन जेएनयू जैसे ख्यातिप्राप्त संस्थानों में इसे लागू कर मोदी सरकार इन नीतियों को ठोस रूप में स्थापित करना चाहती है।

इसलिए वफ़ादार मामिडाला का कार्यकाल पूरा होने के बाद मोदी सरकार कुलपति के लिए शान्तिश्री धुलिपुड़ी को खोजकर लायी है। इनकी सबसे बड़ी योग्यता यह है कि ये संघ परिवार के हिन्दुत्ववादी रंग में रँगी हुई मोदी सरकार की वफ़ादार कारकुन हैं जिनसे कोई भी काम करवाया जा सकता है। धुलिपुड़ी जी ट्विटर पर जेएनयू के छात्रों और शिक्षकों को गोली मारने, बम से उड़ा देने के अलावा सीएए-एनआसी के दौरान विरोध करने वाले लोगों को जिहादी, पत्रकारों को देश का दुश्मन और इन सभी से निपटने का अन्तिम समाधान यानी इन सब का क़त्लेआम कर देने की बातें खुले तौर पर बेलागलपेट करती कही हैं। इनके ट्वीट में लिखा है कि ये गोडसे और गाँधी दोनों को सही मानती हैं!

इस निम्न स्तर की गाली-गलौच करने वाली, खुले तौर पर हिंसा का समर्थन करने वाली किसी महिला का देश के सबसे प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान का उपकुलपति होना न केवल उस संस्थान के लिए दुर्भाग्य का विषय है बल्कि पूरे देश के लिए दुर्भाग्य का विषय है। इनके ट्वीट को पढ़कर इन्हें अकादमिक जगत की कंगना रणौत कहा जा सकता है।

इतना ही नहीं धुलिपुड़ी पर भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप भी लगे हैं। पुणे विश्वविद्यालय में धुलिपुड़ी जी इण्टरनेशनल स्टूडेण्ट सेण्टर की डायरेक्टर थीं। भारतीय मूल के विदेशी छात्रों के लिए आरक्षित सीटों पर उन छात्रों की जगह विभिन्न विषयों में लगभग ऐसे 1800 भारतीय छात्रों को दाखिला दिया गया जो योग्यता भी पूरा नहीं करते थे। धुलिपुड़ी ने इसके लिए कर्मचारियों को रिश्वत भी दी थी। जाँच में दोषी पाये जाने के बावजूद सज़ा के तौर पर उन्हें मात्र 5 बार की वेतन वृद्धि से वंचित किया गया। लेकिन विश्वविद्यालय के शिक्षकों के बीच धुलिपुड़ी की साख बिल्कुल ख़त्म हो गयी।

इसके बाद धुलिपुड़ी दक्षिणपन्थी राजनीति को खुले तौर पर समर्थन देने लगी हैं। ट्विटर और सोशल मीडिया के तमाम पोस्ट देखते हुए इस बात का अन्दाज़ा लगया ही जा सकता है कि ये अकादमिक जगत में कितने गम्भीर शोध में लगी हैं। अपनी कक्षा में छात्रों को आरएसएस के होनहार ट्रोल व गुण्डे बनने की शिक्षा अच्छी तरह देती होंगी। आरएसएस के साथ अपने सम्बन्ध की घोषणा वह खुलकर करती हैं। संघ के प्रति अपनी वफ़ादारी का उन्हें उचित इनाम मिला है। भ्रष्टाचार के सारे आरोपों से मुक्ति तो मिल ही गयी, साथ ही उपकुलपति जैसे महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति भी मिल गयी।

ध्यान देने की बात है कि जनता की गाढ़ी कमाई से बने सार्वजनिक संस्थान और शिक्षण संस्थान को मोदी-शाह मिलकर कौड़ी के दाम बेच रहे हैं। किसी भी देश के छात्र और नौजवान देश में अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों में बेहद आगे रहते हैं। इसलिए फ़ासीवादी सत्ता के लिए ज़रूरी है कि इन संस्थानों को सीधे संघ के नियंत्रण में रखा जाये। शान्तिश्री धुलीपुड़ी पण्डित की नियुक्ति इसी योजना का हिस्सा है।

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की शहादत (23 मार्च) की 91वीं बरसी पर

युद्ध आज भी जारी है...

– आशीष

"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद" – भगतसिंह और उनके क्रान्तिकारी साथियों का यह नारा आज ट्रेड यूनियन के दलालों से लेकर फ़ासिस्टों के चेले तक भी लगाने लगे हैं। जनता को अगले पाँच साल तक कौन लूटेगा, इसका फ़ैसला करने के लिए होने वाले चुनावों की रैलियों में भी भगतसिंह की फ़ोटो घुमायी जाती है। आम लोग भी इन फरेबियों के शब्दजाल में फँसकर भूल जाते हैं कि यही लोग पिछले 75 साल से भगतसिंह और उनके साथियों के सपनों की हत्या में शामिल रहे हैं।

इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि आज भी ज़्यादातर लोगों को यही नहीं मालूम कि हमारे उन क्रान्तिकारी शहीदों ने किस तरह की आज़ादी का सपना देखा था। भगतसिंह को लोग असेम्बली में बम फेंकने वाले एक जोशीले क्रान्तिकारी नौजवान के रूप में तो जानते हैं, लेकिन एक विचारक के रूप में उन्हें नहीं जानते। उनके विचार, उनके सिद्धान्त आज भी ज़्यादातर लोगों के लिए अनजान हैं।

इस साल 23 मार्च को भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु का 91वाँ शहादत दिवस है। 1931 में इसी दिन ज़ालिम अंग्रेज़ हुकूमत ने इन तीनों महान क्रान्तिकारियों को फाँसी पर लटका दिया था। आइए, इस मौक़े पर थोथी जयजयकार करने के बजाय अपने इन महान पुरखों के विचारों को जानने-समझने की कोशिश करें और देश के करोड़ों मेहनतकश लोगों के लिए सच्ची आज़ादी लाने के उनके अधूरे सपनों को पूरा करने के लिए लड़ने का संकल्प लें।

लम्बे संघर्ष के बाद 15 अगस्त 1947 को देश ब्रिटेन की ग़ुलामी से आज़ाद हुआ। लेकिन यह आज़ादी शुरू से ही आधी-अधूरी और बीमार थी। आज देश का शासन भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथ में है और वही लोगों की मेहनत और संसाधनों का सबसे बड़ा लुटेरा भी है। साथ ही, इस लूट को जारी रखने और बढ़ाने के लिए वह पूँजी और तकनोलॉजी साम्राज्यवादी देशों से भी लेता है और बदले में इस लूट का एक हिस्सा उन्हें भी देता है। भगतसिंह ने कांग्रेस के नेतृत्व में जारी स्वतंत्रता आन्दोलन के बारे में चेतावनी देते हुए कहा था, "भारतीय पूँजीपति भारतीय लोगों को धोखा देकर विदेशी पूँजीपति से विश्वासघात की क़ीमत के रूप में कुछ हिस्सा प्राप्त करना चाहता है।" यह चेतावनी आज सच साबित हो चुकी है।

शासक वर्ग हमेशा ही महान क्रान्तिकारी विचारकों के मरने के बाद उन्हें बस देवता बना देने की कोशिश करता है ताकि लोग उनके प्रति श्रद्धा रखें, उनकी पूजा करें लेकिन उनके विचारों को जानने और उन पर अमल करने की राह पर न चलें। भगतसिंह, सुखदेव व राजगुरु सरीखे क्रान्तिकारी इसके अपवाद नहीं रहे। हर वर्ष इनके शहादत दिवस पर सभी प्रमुख चुनावबाज़

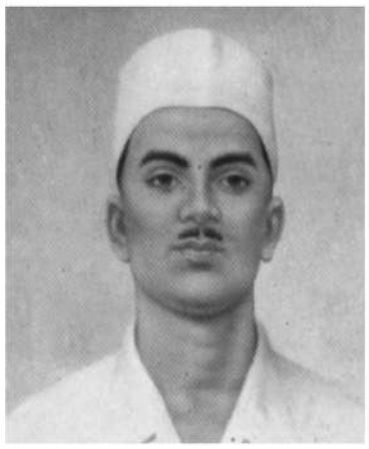

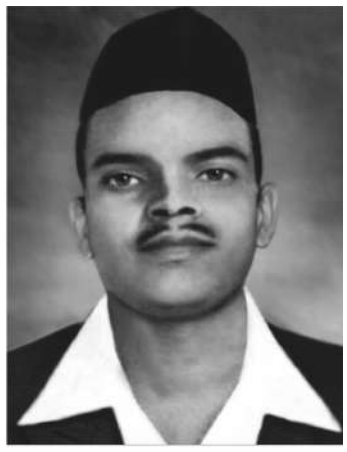

राजनीतिक दलों के नेता इनकी मूर्तियों पर फूलमाला चढ़ाते हैं और साथ ही इस बात की भरसक कोशिश करते रहते हैं कि इनके विचारों को आम मेहनतकश जनता तक नहीं पहुँचने दिया जाये। भगतसिंह एवं अन्य क्रान्तिकारियों के लिए जनता में आदर भावना को देखते हुए आरएसएस, खालिस्तानी और दूसरी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी इनका नाम लेकर इनके विचारों को दूषित करने का असफल प्रयास करती रही हैं।

भगतसिंह और उनके साथी असल मायने में कौन थे? क्या वे केवल बहादुर और देशभक्त नौजवान थे? आख़िर क्या थे उनके विचार? आज भी शासक वर्ग इनके विचारों को जनता के बीच क्यों नहीं पहुँचने देना चाहते? भगतसिंह और उनके साथी न केवल बहादुर और देशभक्त थे बल्कि वे अपने समय तक के क्रान्तिकारियों की पीढ़ी में सबसे विचारवान एवं उन्नत चेतना से लैस क्रान्तिकारी थे। अपने जीवन के आरम्भिक दिनों में भगतसिंह कांग्रेस और गाँधी की राजनीति से प्रभावित थे लेकिन जल्दी ही उन्हें यह बात समझ में आ गयी कि कांग्रेस ज़मीन्दारों-रायबहादुरों-धन्नासेठों और पूँजीपति वर्ग की पार्टी है और अपने वर्ग हितों के हिसाब से जनता के आन्दोलन का इस्तेमाल कर रही है।

जिस समय भगतसिंह क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन में क्रान्तिकारी आतंकवाद की धारा प्रचलित थी। क्रान्तिकारी आतंकवाद की धारा से निर्णायक विच्छेद करने में भगतसिंह की भूमिका बेहद अहम थी। 1925 से 1929 के दौरान भगतसिंह, भगवतीचरण वोहरा और सुखदेव आदि ने रूस में मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न बोल्शेविक क्रान्ति और उसके नेताओं के विचारों का गहन अध्ययन किया। उन्होंने अपने अन्य साथियों को भी अध्ययन के लिए प्रेरित किया। 1928 के अन्त तक भगतसिंह तथा उनके साथी समाजवाद को अपना लक्ष्य बताने लगे और अपने संगठन का भी नाम 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ' से बदलकर 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ' कर दिया। भगतसिंह अपनी फाँसी के समय तक मार्क्सवाद का अध्ययन करते रहे और मार्क्सवादी नज़रिए से अतीत, वर्तमान और भविष्य के मुद्दों पर अपने विचार प्रकट करते रहे। अदालत में अपने प्रसिद्ध बयान में भगतसिंह ने कहा था आज़ादी से हमारा अभिप्राय है एक ऐसे समाज का निर्माण जिसमें एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र तथा एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का शोषण बिल्कुल असम्भव हो जाये। अगर कांग्रेस के नेतृत्व में आज़ादी हासिल हुई तो वह सिर्फ़ ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों की आज़ादी होगी, पूँजीपतियों-साहूकारों की आज़ादी होगी; देश के 90 प्रतिशत मज़दूरों-किसानों की ज़िन्दगी को शोषण और लूट से आज़ादी नहीं मिलेगी। उनकी यह चेतावनी एकदम सही साबित हुई।

आज़ादी मिलने के बाद दो प्रकार के भारत का निर्माण हुआ। एक मेहनत की लूट करने वाले मुट्ठीभर लोगों का भारत, जिसमें रहने वाले लुटेरों की सम्पत्तियों और अय्याशी के साधनों में दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि हुई। दूसरा भारत वह है जिसमें अपनी श्रमशक्ति को बेचकर ज़िन्दा रहने वाली विशाल आबादी रहती है। जीवनभर हाड़-तोड़ मेहनत करने वालों के हिस्से में ग़रीबी, भुखमरी, बेघरी, और तंगहाली ही आयी है। चाहे कांग्रेस, भाजपा या क्षेत्रीय पार्टियाँ या फिर नक़ली लाल झण्डे वाली भाकपा, माकपा या लिबरेशन जैसी पार्टियाँ सत्ता में रहें, दूसरे दर्जे के हिन्दुस्तान में बसने वाली मेहनतकश अवाम की हालत दिनों-दिन बद से बदतर ही होती जा रही है| कोरोना महामारी के दौरान ग़रीबों-मेहनतकशों की रोज़ी-रोटी का इन्तज़ाम किये बिना लगाये गये अनियोजित लॉकडाउन और सरकारी कुप्रबन्धन की क़ीमत भी करोड़ों-करोड़ आम लोगों ने ही चुकायी। बड़े पूँजीपति तो इस दौरान भी "आपदा में अवसर" का लाभ उठाते हुए अपनी तिजोरियाँ भरते रहे।

भगतसिंह और उनके साथी इस ग़ैर-बराबरी, अन्याय, लूट और शोषण के ख़िलाफ़ थे। वे जनता की एकजुटता के दम पर ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना चाहते थे जिसमें उत्पादन से लेकर राजकाज के पूरे ढाँचे पर आम मेहनतकश लोगों का अधिकार हो। इन शहीदों के विचारों से आज भी लोग अगर परिचित हो जायेंगे और एकजुट होकर संघर्ष करेंगे तो लुटेरों और उनकी नुमाइन्दगी करने वाली तमाम पार्टियों की लूट और शोषण के सभी हथियार ध्वस्त हो जायेंगे। लोग क्रान्तिकारियों के सही विचारों को नहीं जानें, आपस में बँटकर रहें, लूट-शोषण का खेल चलता रहे, ऐसी कोशिश तो सभी बुर्जुआ पार्टियाँ करती हैं लेकिन इस काम में फ़ासिस्ट संगठन आर.एस.एस. और उसके चुनावी चेहरे भाजपा और अनेक अनुषांगिक संगठनों का कोई जोड़ नहीं है। देश में साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़ने के उद्देश्य से संघी फ़ासिस्ट मन्दिर-मस्जिद, लव जिहाद, गौरक्षा, हिजाब जैसे नक़ली मुद्दों को हवा देते रहते हैं।

आज पर्व त्योहारों में भी साम्प्रदायिक उन्माद का रंग घोला जा रहा है, राजनीतिक गोटी लाल करने के मंसूबे से साम्प्रदायिक दंगे तक करवाये जाते हैं। इस प्रकार की स्थिति से निपटने के लिए भगतसिंह ने वर्गीय आधार पर एकता क़ायम करने की बात करते हुए कहा था, "लोगों को आपस में लड़ने से रोकने के लिए वर्ग चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों में तुम्हारा नुक़सान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी ज़ंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतंत्रता मिलेगी।"

जीवन के अन्तिम दिनों तक भगतसिंह संगठन की आवश्यकता को बेहतर तरीक़े से समझ चुके थे। 'क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा' नामक दस्तावेज़ में वे अपनी इस समझ को व्यवस्थित रूप में पेश करते हैं। हर नौजवान को इस दस्तावेज़ को ज़रूर पढ़ना चाहिए। जेल से विद्यार्थियों के नाम भेजे गये एक पत्र में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने देश के सभी इन्साफ़पसन्द नौजवानों के नाम जो सन्देश भेजा था, वह आज पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक है।

उन्होंने कहा था, **"इस समय हम नौजवानों से यह नहीं कह सकते कि वे बम और पिस्तौल उठायें। आज विद्यार्थियों के सामने इससे भी महत्त्वपूर्ण काम है।... नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्टरी-कारख़ानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।"**

आज जो लोग लुटेरी सत्ता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों को "देशद्रोही" घोषित कर देते हैं वे ख़ुद अंग्रेज़ों की दलाली किया करते थे। आज वे जिसे "वीर" सावरकर कहकर पूजते हैं, वह "वीर" उस समय अंग्रेज़ों के समक्ष माफ़ीनामे लिख रहा था और अंग्रेज़ों से मोटी पेंशन ले रहा था। यह वही समय था जब फाँसी के तीन दिन पहले भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु पंजाब के गवर्नर को ख़त लिखकर कह रहे थे कि **"हमें फाँसी देने के बजाय गोली से उड़ा दिया जाये।"**

उस पत्र में **भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु** लिखते हैं,

"हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है और यह युद्ध तब तक चलता रहेगा, जब तक कि शक्तिशाली व्यक्ति भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार जमाये रखेंगे। चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज़ पूँजीपति, अंग्रेज़ शासक या सर्वथा भारतीय ही हों। उन्होंने आपस में मिलकर एक लूट जारी कर रखी है। यदि शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धनों का ख़ून चूसा जा रहा हो तब भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।...यह युद्ध चलता रहेगा। इसमें छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। बहुत सम्भव है कि यह युद्ध भयानक स्वरूप धारण कर ले। यह उस समय तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि समाज का वर्तमान ढाँचा समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन या क्रान्ति नहीं हो जाती और सृष्टि में एक नवीन युग का सूत्रपात नहीं हो जाता।

"निकट भविष्य में यह युद्ध अन्तिम रूप में लड़ा जायेगा और तब यह निर्णायक युद्ध होगा। साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद कुछ समय के मेहमान हैं। यही वह युद्ध है जिसमें हमने प्रत्यक्ष रूप में भाग लिया है। हम इसके लिए अपने पर गर्व करते हैं कि इस युद्ध को न तो हमने प्रारम्भ ही किया है, न यह हमारे जीवन के साथ समाप्त ही होगा।"

वह युद्ध आज भी जारी है। उसे अंजाम तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी इतिहास ने आज की युवा पीढ़ी को सौंपी है। क्या आप इस न्याययुद्ध में अपनी भूमिका निभाने के लिए तैयार हैं?

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

‘आज़ादी के अमृत महोत्सव’ के बहाने मोदी ने की पूँजीपतियों के मन की बात

अधिकारों को भूल जायें, चुपचाप “कर्तव्यों” का पालन करें!

– आनन्द

देश की आज़ादी के 75 साल पूरे होने के अवसर पर पिछले कई महीनों से मोदी सरकार गाजे-बाजे के साथ ‘आज़ादी का अमृत महोत्सव’ मना रही है और अगले 25 सालों के दौरान जी-जान लगाकर मेहनत करने के लिए जनता का आह्वान कर रही है। गत 20 जनवरी को ‘आज़ादी के अमृत महोत्सव से स्वर्णिम भारत की ओर’ नामक कार्यक्रम के दौरान नरेन्द्र मोदी ने जनता के अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ बातें कहीं जो आने वाले दिनों की एक तस्वीर पेश करती हैं। मोदी ने कहा, “हमारे समाज में एक बुराई सबके भीतर घर कर गयी है, अपने कर्तव्यों से विमुख होना, अपने कर्तव्यों को सर्वोपरि न रखना। बीते 75 वर्षों के दौरान लोग केवल अधिकारों की ही बात करते रहे, अधिकारों के लिए लड़ते रहे जूझते रहे और समय भी खपाते रहे। अधिकारों की बात कुछ समय के लिए किसी हद तक किसी परिस्थिति में सही हो सकती है। लेकिन अपने कर्तव्यों को पूरी तरह भूल जाना, इस बात ने भारत को कमज़ोर करने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। भारत ने अपना बहुत बड़ा समय इसलिए गँवाया क्योंकि कर्तव्यों को प्राथमिकता नहीं दी गयी। इन 75 वर्षों में कर्तव्यों को दूर रखने की वजह से जो खाई पैदा हुई है, सिर्फ़ अधिकारों की बात करने से समाज में जो कमी आयी है उसकी भरपाई हम मिल करके आने वाले 25 वर्षों में कर्तव्य की साधना करके पूरी कर सकते हैं।”

मोदी ने इस बयान में भारत के शासक इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग के मन की बात कही है। भारत के हुक्मरानों का यही मानना है कि इस देश के लोग केवल अधिकारों की बात करते रहते हैं और अपने कर्तव्य बिल्कुल नहीं निभाते। इसका आशय यह है कि देश की जनता को अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष करना छोड़कर चुपचाप थैलीशाहों की थैली भरने के कर्तव्य की साधना करना चाहिए क्योंकि भारत को (पढ़िए पूँजीपतियों को!) मज़बूत बनाना है। दूसरे शब्दों में, मज़दूरों को अपने काम के घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, ओवरटाइम, पीएफ़, ईएसआई और यूनियन बनाने, बोलने और विरोध करने के अधिकारों को भूल जाना चाहिए और बिना चूँ तक किये कारख़ानों में दिन-रात खटने का अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। यह बयान दिखाता है कि मुनाफ़े की गिरती दर से परेशान भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए अब देश की जनता को बचे-खुचे अधिकार देना भी भारी पड़ रहा है और वह पूँजी की तानाशाही को ज़्यादा से ज़्यादा नंगे रूप में लागू करने की तैयारी कर रहा है।

मोदी को वैसे भी अपने अधिकारों की बात करने वाले और जनता के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले लोग फूटी आँख नहीं सुहाते। कुछ समय पहले मोदी ने ऐसे लोगों को ‘आन्दोलनजीवी’ और परजीवी तक कहा था। मानवाधिकारों से तो मोदी और उनकी पार्टी का छत्तीस का आँकड़ा रहा है। पहले ही देश के तमाम सम्मानित मानवाधिकार कर्मी फ़र्ज़ी आरोपों में सालों से जेलों में सड़ रहे हैं। अपने इस ताज़ा बयान से मोदी ने साफ़ इशारा किया है कि अधिकारों की बात करना ही अपने आप में राष्ट्र-विरोधी काम समझा जायेगा क्योंकि इससे राष्ट्र कमज़ोर होता है।

मोदी के बयान से यह भी स्पष्ट है कि भारत का शासक वर्ग अपने निकम्मेपन

का ठीकरा जनता के सिर ही फोड़ना चाह रहा है। यानी अगर देश विकास नहीं कर रहा है तो इसके लिए सरकार नहीं बल्कि ख़ुद जनता ही ज़िम्मेदार है क्योंकि वह अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करती है। ग़ौरतलब है कि जनता के कर्तव्यों की बात अक्सर भारतीय राज्य द्वारा जनता को उसके मूलभूत अधिकार प्रदान करने और संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को पूरा करने के कर्तव्य को पूरा करने में विफलता को छिपाने के लिए की जाती है। भारतीय संविधान में भी मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान आपातकाल के दौरान कुख्यात 42वें संशोधन के तहत जोड़े गये थे ताकि आज़ादी के समय किये गये वायदों को पूरा न कर पाने के लिए जनता को ही ज़िम्मेदार ठहराया जा सके। मूलभूत कर्तव्यों से सम्बन्धित ये प्रावधान वास्तव में निरंकुश सत्ता के प्रति लोगों में वफ़ादारी की भावना पैदा करने के मक़सद से डाले गये थे। इन्दिरा गाँधी के निरंकुश शासन के दौरान किया गया यह संवैधानिक संशोधन आज भारत के फ़ासिस्ट शासकों के लिए वरदान साबित हो रहा है।

हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय के एक वकील ने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की है जिसमें मूलभूत कर्तव्यों का पालन करना क़ानूनी रूप से बाध्यताकारी बनाने की बात कही गयी है। न्यायालय ने याचिका को स्वीकार करते हुए केन्द्र और राज्य सरकारों से जवाब देने के लिए कहा है। याचिकाकर्ता ने याचिका में पूर्व सोवियत संघ और चीन का भी उल्लेख किया है। मूलभूत अधिकारों की बजाय मूलभूत कर्तव्यों पर ज़ोर देने वाले लोग अक्सर इस तथ्य का हवाला देते हैं कि सोवियत संघ के संविधान में भी मूलभूत कर्तव्यों से सम्बन्धित प्रावधान थे। लेकिन ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि सोवियत संघ में मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान से पहले जनता को काम करने के अधिकार, आराम करने के अधिकार, बुज़ुर्गों की बेहतर ज़िन्दगी का अधिकार, सार्वभौमिक और समान शिक्षा का अधिकार, स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी का अधिकार आदि जैसे बुनियादी अधिकारों के प्रावधान भी संविधान में मौजूद थे जो केवल संविधान के पन्नों में धूल नहीं फाँक रहे थे बल्कि व्यवहार में भी लोगों को ये अधिकार वास्तव में मिले थे। सोवियत संघ की समाजवादी सत्ता ने महज़ तीन दशकों के भीतर ही ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, वेश्यावृत्ति आदि जैसी समस्याओं का समाधान करके दिखाया था। जबकि भारतीय संविधान नागरिकों को उनके बेहद बुनियादी हक़ों, मसलन काम करने का अधिकार, भोजन का अधिकार, आवास का अधिकार, समान और निःशुल्क शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, काम करने की मानवोचित परिस्थितियों के अधिकार आदि की भी कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेता है। ऐसा राज्य जो नागरिकों की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की गारण्टी लेता हो, जो जनता से दूर उस पर हुकूमत करने की बजाय उसकी प्रत्यक्ष भागीदारी से शासन-प्रशासन की गतिविधियाँ चलाता हो, यदि नागरिकों से मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने का आग्रह करता है तो बात समझ में आती है। परन्तु एक ऐसे राज्य को नागरिकों से उनके मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है जो स्वयं जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी से मुकर गया है। ऐसी राज्यसत्ता जो जनता की बुनियादी ज़रूरतों तक को पूरा करने के अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करती अगर जनता से अपने मूलभूत कर्तव्य को पूरा करने की उम्मीद करे तो इसे प्रहसन ही कहा जायेगा।

विधानसभा चुनावों में भाजपा की जीत के बाद हमारे भावी प्रतिरोध की रणनीति क्या हो?

(पेज 6 से आगे)

अन्त में...

यह समझने की ज़रूरत है कि फ़ासीवादी उभार के समक्ष जब तक जनता के क्रान्तिकारी जनान्दोलन नहीं खड़े किये जाते, न सिर्फ़ भाजपा और संघ परिवार का हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद चुनावों में हावी रहेगा, बल्कि वह चुनावों में हावी न रहने पर भी ज़ंजीर से बँधे कुत्ते के समान पूँजीवाद व पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करेगा और उनकी पैदल सेना के तौर पर मज़दूरों-मेहनतकशों और उनके आन्दोलनों पर हमले करता रहेगा।

इसके लिए यह ज़रूरी है कि एक ओर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी व्यापक मेहनतकश जनता और विशेष तौर पर शहरों व गाँवों में असंगठित क्षेत्र के मज़दूर वर्ग के बीच सघन और व्यापक राजनीतिक कार्य करके उनके क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करें और उनमें राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन करें; वहीं यह भी ज़रूरी है कि वे गाँवों में व्यापक ग़रीब व निम्न-मध्यम किसान आबादी व खेतिहर मज़दूरों को उनके अलग वर्गीय संगठनों में संगठित करें, उनके बीच सघन और व्यापक राजनीतिक प्रचार करें, उनके बीच राजनीतिक चेतना का स्तरोन्नयन करें और उन्हें कुलकों व धनी किसानों के राजनीतिक प्रभाव से पूरी तरह से मुक्त करें। जब तक ये दो कार्यभार पूरे नहीं होते, तब तक फ़ासीवादी उभार को चुनौती देना सम्भव नहीं हो पायेगा।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्यभार यह है कि टुटपुँजिया वर्गों के बीच अपने राजनीतिक व सांस्कृतिक कार्य, क्रान्तिकारी सुधार कार्य व शैक्षणिक कार्यों के ज़रिए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों को अपना गहरा आधार बनाना चाहिए। टुटपुँजिया वर्ग वह होता है जो कि स्वयं पूँजीपति वर्ग नहीं है और नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण करने की स्थिति में नहीं होता है। वह अक्सर स्वयं अपनी श्रमशक्ति भी बेचता है और आर्थिक तौर पर वह मज़दूर वर्ग से कुछ ऊपर भी होता है, साधारण माल उत्पादन में लगा होता है, या कुछ बेहतर वेतन देने वाली नौकरी में लगा कर्मचारी होता है। यह अपने आपको मज़दूर वर्ग से ऊपर समझता है और इसका ऊपरी हिस्सा पूँजीपति बन जाने के सपने भी पालता रहता है। लेकिन जिस रफ़्तार से वह ये सपने देखता है, उससे तेज़ रफ़्तार से पूँजीवादी व्यवस्था उसके इन सपनों को तोड़ती भी रहती है। इसका बड़ा हिस्सा लगातार सर्वहाराकरण की दहलीज़ पर खड़ा होता है, जो कि उसका सबसे बुरा दुस्वप्न होता है। उसकी इसी असुरक्षा का इस्तेमाल फ़ासीवादी शक्तियाँ करती हैं और उसकी असुरक्षा और अनिश्चितता से पैदा ग़ुस्से और चिड़चिड़ाहट को एक नक़ली शत्रु यानी मुसलमानों की ओर मोड़ देती हैं। क्रान्तिकारी शक्तियों का काम है कि वह लगातार उनके बीच काम करें, उनके बीच अपनी मौजूदगी को बनाये रखे और उसे ठोस उदाहरणों और प्रमाणों से दिखलाये कि उसके जीवन की अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है, पूँजीपति वर्ग ज़िम्मेदार है, उसकी नैसर्गिक एकता मज़दूर वर्ग के साथ बनती है और केवल समाजवादी व्यवस्था ही उन्हें इस असुरक्षा और अनिश्चितता से स्थायी तौर पर निजात दिला सकती है। यह एक लम्बा और श्रमसाध्य काम है। लेकिन इसकी उपेक्षा करने की क़ीमत क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने पहले भी चुकायी है और आज भी फ़ासीवादी उभार के रूप में चुका रहे हैं।

उपरोक्त कार्यभारों को पूरा किये बिना महज़ किसी चुनावी रणनीति या रणकौशल के ज़रिए संघी भाजपाई फ़ासीवाद को शिकस्त नहीं दी जा सकती है। आगे हम इस मसले पर और विस्तार से भी लिखेंगे, लेकिन अभी कुछ सबसे अहम मुद्दों को चिह्नित करना आवश्यक था क्योंकि इससे ठोस कार्यभार निकालना और उन पर अमल करना हमारे सभी क्रान्तिकारी साथियों की ज़िम्मेदारी है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, ातगंज, लखनऊ-226006